

प्रेम-मन्दिर के प्रसिद्ध प्रेमी पुजारी

स्वर्गीय कुमार देवेन्द्रमसाद

की

प्रेमामृतमयी पवित्रात्मा

की

वृत्ति और शान्ति

के लिये

एन्हीं की स्मृति-रत्ना की सदिच्छा से

वृत्तीय पार

एन्हीं के एक प्रिय मित्र द्वारा

संगोधित, सन्वदित एवं सुसम्पादित

तया

एन्हीं के एक स्नेह-भाजन धर्मबन्धु द्वारा

प्रेम-पूर्वक प्रकाशित ।







|  |     |     |    |
|--|-----|-----|----|
| (२५) विक्रमिण कुसुम ...                        | ... | ... | ४९ |
| (२६) प्रेम ...                                 | ... | ... | ५२ |
| (२७) प्रेम का अद्भुत व्यवहार ...               | ... | ... | ५३ |
| (२८) प्रेम ...                                 | ... | ... | ५४ |
| (२९) प्रेम की अद्भुत होरी ...                  | ... | ... | ५९ |
| (३०) प्यारे कमल ...                            | ... | ... | ६० |
| (३१) प्रेमालाप ...                             | ... | ... | ६२ |
| (३२) प्रेम ...                                 | ... | ... | ६४ |
| (३३) प्रेममय मिलन ...                          | ... | ... | ६६ |
| (३४) प्रेमसत्रक ...                            | ... | ... | ६७ |
| (३५) प्रेम ...                                 | ... | ... | ६८ |
| (३६) प्रेममन्त्र ..                            | ... | ... | ७२ |
| (३७) प्रेम ...                                 | ... | ... | ७५ |
| (३८) प्रेम-शरालि ...                           | ... | ... | ७६ |
| (३९) प्रेम ..                                  | ... | ... | ८३ |
| (४०) प्रेम व्यासा ..                           | ... | ... | ८४ |
| (४१) प्रेम-वन्दन ..                            | ... | ... | ८६ |
| (४२) प्रेम ...                                 | ... | ... | ८९ |
| (४३) विदाड ...                                 | ... | ... | ९४ |
| (४४) प्रेम-सुवासनि ..                          | ... | ... | ९५ |
| (४५) प्रेम का निगलन दृग और विष्ट प्रेममय्य ... | ... | ... | ९६ |
| (४६) प्रेममन्त्रक और प्रेम की शक्ति ...        | ... | ... | ९७ |
| (४७) प्रेम पत्राल ..                           | ... | ... | ९८ |
| (४८) प्रेम का शक्ति ...                        | ... | ... | ९९ |



निकल चुकी है। तद्वत् भद्वत् का जमाना है सही, किन्तु वाल्मव में पुस्तक की बाहरी चमक-दमक को जतना महत्व नहीं दिया जाना चाहिये जितना उसके अन्तःपट की रमणीयता को देना उचित है। तो भी, मैंने पुस्तक को स्वच्छ और सुमज्जिन बनाने में कोई श्रुति नहीं रहने दी है। ज्यों ज्यों मेरी जानकारी और मेरी अनुभव-शीलता बढ़ेगी त्यों त्यों मैं नया रंग और निराला ढंग पैदा करने की चेष्टा में प्रवृत्त होता जाऊँगा। यह मेरी पहली भेंट यदि सहृदय प्रेमियों ने स्वीकृत कर ली तो अधिकतर प्रमादित हो कर मैं उनकी सेवा में शीघ्र ही कोई नया उपहार ले कर उपस्थित होऊँगा।

यद्यपि इस बार इस पुस्तक का बाहरी अंग पहले के ऐसा मनो-मुग्धकर नहीं है तथापि इसका अन्तरङ्ग अस्यत्न रुचिरता-रञ्जित है। इसके सम्पादक और आदि-सम्पादकतां हिन्दीभूषण बाबू शिवपूजन सहाय जी (सम्पादक, मारवाड़ी-मुधार, आरा) ने इसे पुनः सुसम्पादित करके मुझे जो कृपण बनाया है उसके लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ। आशा है, उनकी कृपा से, भागे चला कर, कुछ ही दिनों में, मैं कई उपदेश-प्रद एवं चित्तप्रसादक पुस्तकें प्रकाशित कर सकूँगा जिनमें पाठकों का यथेष्ट मनोविनोद होगा।

मैं प्रेमी पाठकों को यह विराम दिलाता हूँ कि मैं वीर-मंदिर द्वाग प्रथ-प्रकारान का काव्य नियमित रूप से कहूँगा। विशेषतः ललित, चित्तचोर और दिज्ञचर्य किताबें हो प्रकाशित करना अभीष्ट है जिनमें शुद्धता के साथ ऐसे ऐसे भाव सङ्गलित या सञ्चित किये गये रहेंगे कि पाठक बरबरा फड़क उठें और देखने हो उनका

[ ग ]

चित्त धनत्कृन्न और चकित हो जाय। विशुद्ध भावमय साहित्य का प्रचार ही प्रधान लक्ष्य है। विश्वास है, प्रभुवर मेरी सहायता करेंगे।

यह पुस्तक अपने आदि-प्रकाशक की स्मृति-रक्षा के निमित्त, हिन्दी-संसार में, तीसरी बार, विशेष सरस सामग्री के साथ, पदार्पण कर रही है। आशा है, इसका समुचित स्वागत होगा और जिसका स्मारक यह धनना चाहती है उसकी स्वर्गस्थ अन्तरात्मा सन्तुष्ट हो कर इसे आशीर्वाद देगी।

वीर-मंदिर, आरा,  
वसंतपंचमी १९७८.

प्रेमियों का वशम्बद—  
धनन्तकुमार जैन





## सम्पादक का निवेदन ।

"I can not do much", said a little star,  
"To make the dark world bright !

My silvery beams can not struggle far  
Through the folding gloom of night !

But I'm only part of God's great plan,  
And I'll cheerfully do the best I can !"

मित्रवर कुमार देवेन्द्र प्रसाद इस पुस्तक के आदि-प्रकाशक थे । आज उनका पार्थिव शरीर इस घरा-धाम में नहीं है । किन्तु उनकी स्वर्गीय आत्मा इस पुस्तक के प्रेमपुष्पास्मरण पर विभ्राम कर रही है ।

छ-मात साल की बानी बाल है । एक दिन मैं अपनी नाट-बुक में ब्रजभाषा की कुछ कविताएँ उतार रहा था । वे अकस्मान् पहुँच गये । प्रसंगवश उन्होंने कविताओं को सुनने के लिये उमुकता प्रकट की । मैं सुनाने लगा । वे प्रेम की मस्ती में भूमने लगे । उन्होंने ब्रजभाषा-साहित्य का अध्ययन करने की इच्छा भी प्रकट की । वे हिमां रमीले मंथ का पना पूछने लगे । मैंने उस समय की अपनी जानकारी के अनुसार "रसकुमुमाकर" का नाम बतलाया और पाम उसकी एक हस्तलिखित प्रति थी । वह बड़ी सुन्दर थी । वे उसे उठा ले गये । नहीं, मुझे भी पकड़ कर अपने साथ ले

गये। प्रीत्य का हृष्ट भग्याह था। मैं उन की सुमजित फोंडरी में बैठ कर उन्हें काव्यानन्द का रमान्यादन करा रहा था। उत्तम भाग्याह की प्रघरहता भी इन विचित्र चित्र-कुटी की कुञ्ज-भाग्या में आकर शीतल शरदम्बिका बन जाती थी। यात ही यात में, मैंने इनसे "मर्यादा" के एक अंश में प्रकाशित प्रिय-प्रधान-प्रस्ता कविवर "हरिऔध जी" की "श्रोत्र के आँसू" शीर्षक कविता के भाव-गान्भीर्य की भूरि प्रशंसा की। सुनने भर की देर थी। उन्हें बदेग हाँ गया। उनकी तीव्र चकलठा शान्त करने के लिये शाम को मैं आरा नागरी-प्रचारिणी सभा में "मर्यादा" की वह संख्या ले गया। जिस तहीनता के साथ उन्होंने दो दो बार पढ़वा कर कविता सुनी वह आज भी मेरी आँसुओं में नाच रही है। जिनने उन्हें कभी प्रेम-निमग्न होते समय देखा होगा वही कल्पना पर सकता है कि इनमें प्रेम की कैसी ज्वरदस्त विजली भरी हुई थी। अन्ततोगत्वा उन्होंने उस कविता को अलग पुस्तिका-रूप में प्रकाशित कराने की अभिलाषा प्रदर्शित की। और, मुझ से यह भी कहा कि "आँसू" पर जितनी कविताएँ मिल सकें उन्हें साथ हूँद लाइये। मैं आरा नागरी-प्रचारिणी सभा में जाकर सरस्वती की फाइल हूँद कर, अवकाशाभाव के कारण, निर्क दो ही पद्य, चौथे-पाँचवे दिन, उनके पान लेकर गया—एक हरिऔध जी लिखित "दुखिया के आँसू" और दूसरा यायू मैथिली शरण गुप्त रचित "आँसू"। शायद ये दोनों पद्य किन्हीं एक ही साल की भिन्न भिन्न संख्याओं में निकले थे। हरिऔध जी की "आँसू का

‘‘बॉम्बू’’ कविता अथवा वमन्द टो ही चुटी थी, मैथिली राग जी को अनूठी रचना सुनकर जनका प्रेसाई प्रिन्ट बॉम्बू पद्य। फिर रमा था, फइकती हुई और रस सुहसुहानी हुई कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित करना निश्चिा ही हो गया। क्योंकि अभी समय सरस्वती की एक नई संख्या में उनके माननीय सम्पादक का यह उत्साह-बद्धक वाच्य नगर के नोपे पड़ गया कि ‘‘प्रेमी प्रेमी कविताओं का निष्कर्षा हिन्दी के सौभाग्य का सूचक है। इस प्रकार की कविताओं के संग्रह का म्युच प्रचार होना चाहिये’’। यह वाच्य श्रेय द्विवेदी जी ने ‘‘राष्ट्रीय बीणा’’ के विषय में लिखा था। गन सम्करणों के अपने ‘‘प्रेमानुभव’’ में देवेन्द्र प्रसाद उक्त वाच्य का उद्धृत कर चुके हैं। बनारस के सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज में पढ़ते समय उन्होंने ता० २७-८-१२ को एक ‘‘विद्य-प्रेम-संघ’’ स्थापित किया था। वसी ‘‘Love Fraternity’’ का स्मारक-म्यरूप उन्होंने यह पुस्तक प्रकाशित करना स्थिर किया। किन्तु यह कौन जानता था कि तीसरी बार यह प्रेम-संग्रह उन्हीं का स्मारक बनेगा।

और, विचार ही स्थिर होकर नहीं रह गया। आरा के प्रसिद्ध दानवीर रईस श्रीमान बाबू देवकुमार जी जैन द्वारा संस्थापित ‘‘जैनसिद्धान्त भवन’’ के अपूर्व मंथ-संग्रहालय से अच्छी अच्छी मासिक पत्रिकाओं की फाइलें एकत्र हुईं। मैं प्रेमपूर्ण पद्यों को ढूँढ़ने लगा। ढूँढ़े हुए पद्यों में से चुन चुन कर कुछ पद्य इस पुस्तक के लिये लिखे गये। पुस्तक तैयार होते ही वे उसे लेकर प्रयाग

घटे गये। उस समय की उनकी यह बात मुझे आज भी याद है कि "दिल्ली की मशीन होती तो रात भर में इसे छपवा लेता"। हम, इसी वाक्य से उनकी पुस्तक-प्रकाशनोत्सुकता का पता लगा लीजिये कि उनका पारा कितना षड़ा हुआ था।

पुस्तक घटुत देर से लगी परन्तु "देर बाद दुर्लभ आगम" के अनुसार ऐसी नशागत के साथ लगी कि उन्हें क्याइयों लेंते लेंते उप जाना पडा। दूसरे मस्करण की वे एना नूर्या के साथ नहीं लपा सके, क्योंकि इण्डियन प्रेस ( प्रयाग ) ने उनका आग्रह स्वाकार नहीं किया। दूसरा मस्करण विशेष सुसज्जित रूप में वे निहारना चाहते थे, पर पहचाने ला रह गये। यहाँ इन पुस्तक का आत्म-कथा है : कौन जानता था कि तीसरा मस्करण भी उनके लिए पूरा न कर सका। तीसरा स्यासति के प्रकाशक को भी इस बात का पहचानावा है कि द्वितीय मस्करण को अपेक्षा इसे इस बार अधिक सुन्दर रंग-रूप देने का अनंतरथ, कुछ कठिनाय्य कागला से, पर न हो सका। यह भी किसे मालूम था कि उन पुस्तक मौलाना-राय' बन के खबत'ग दइ था वह कमर' रूप-हान' हो जायगा।

स्वस्थान तो यह उमा 'इत हो गया' जिस दिन इस ज' से बढ कर 'दर करन वाला बन' बना। स्वयं पर र'भय' क 'विद्या' म याद कष- इसका 'वह-नृप' में सु'नत' हो गया' व' आ'अय' हो क्या। शरणावक मौलाना'य' नहीं है, बाह्य परिष्कार' नहीं है 'कन्तु इस 'विद्या'गत' का' भा'नामिक' मौलाना'य' पहल' से बहुत बडा।



किन्तु इस दलभंगुर संसार में क्या कुछ भी स्थिर रह सकता है ?  
न रहा है ! न रहेगा ! यदि हिन्दी-साहित्य-संसार में संग्रह के  
"सुभाषितरत्नमालागार" ही की तरह का कोई अच्छा संग्रह-ग्रंथ  
दिनों कर्मवीर और दानवीर की कृपा से प्रकाशित हो जाय तो  
हिन्दी का पढ़ा भारी उपकार हो । मैं उपर्युक्त संग्रह-ग्रंथों की  
प्रशंसा इस लिये नहीं कर जाया हूँ कि उन्हीं की शैली में अपने  
इस छोटे प्रेम-संग्रह की भी गलना कराना चाहता हूँ बल्कि इन  
लिये कि अच्छे अच्छे दृष्ट-संग्रह-ग्रंथ प्रकाशित करने की ओर  
सुयोग्य पुरुषों का ध्यान आकर्षित करूँ । यह खुटकला संग्रह तो  
दो धार पड़ों की दिलचस्पी के लिये है । पूर्वोक्त संग्रहों से इन  
की तुलना ही कैसी ? उनके आगे इतका महत्व ही क्या है ?

अब इस पुस्तक के सम्बन्ध में मुझे इतना ही कहना है कि  
इतका सम्पादन करते हुए मैंने इसके आदि-प्रकाशक मित्रवर  
शुमार देवेन्द्र प्रसाद के भावों की कहीं हत्या नहीं की है । जहाँ  
कहीं मैंने काट-छाँट की है वहाँ उनके मुख्य भावों की रक्षा का  
पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक मानसों अलग कर के उपयोगों  
और रुचिकर सामग्री बहुलतासे सन्मिलित कर दी गयी है । जहाँ  
तक उपर्युक्त उपकरण उपलब्ध हो सका, संज्ञा में उपस्थित करता  
हूँ । यदि सहर्ष स्वीकार कीजियेगा तो आगे साल चौथी अक्टूबर  
इससे भी सुन्दर लीजियेगा ।

अन्त में, जिन माननीय कवियों की हवितारें इस पुस्तक का  
शोभा की अंगभूषण के लिये समर्पित हुई हैं उन्हें कोटिः धन्यवाद



# प्रेम-पुष्प-मंजलि

( कविवर बाबू मैथिलीशरण गुप्त )

( १ )

अन्तर्यामी अखिलेश चराचर-चारी !  
जय निर्गुण, सगुण, अनादि, आदि, अविकारी ।  
पाता है कोई पार न नाथ ! तुम्हारा,  
चलता है यह संसार तुम्हीं से सारा ॥

( २ )

पाकर हे विश्वाधार ! तुम्हारा ही बल,  
है निश्चल यह आकाश और यह भूतल ।  
बहता है नित जल-वायु, अनल जलता है,  
द्रुम-गुल्म-लता-दल फूल फूल फलता है ॥

( ३ )

हे ईश ! तुम्हीं से रवि प्रकाश पाता है,  
कृश हुआ जलाघर फिर विकास पाता है ।  
हैं तारे करुणा-विन्दु तुम्हारे प्यारे,  
न्यारे न्यारे हैं खेल तुम्हारे सारे ॥

( ४ )

हम जब तक अपना जन्म धरा पर धारें,  
हो जाती हैं उत्पन्न दूध की धारें ।





यह वह मिश्री की ढली है कि न इससे घात करे ।  
संक्षिया खाकर मरे पर इरक खर्वा पर न घरे ॥

लो !

तुम्हारी बला

“तुम्हीं” को

इरक शै वो है कि पत्थर को दम में आष करे ।  
लगाये दिल वहाँ जिसे सुदा छराव करे ॥



## प्रेम-पारावार परमेश्वर !

( कविवर पं० रूपनारायण पाण्डेय )

जय प्रभु प्रेम-पारावार ।

मिटत सीनिहू ताप सेवत, छुटत दिष्य पिचर ॥

रहत सुम मटें मगन योगो, पटते खुनि पओ मार ।

एहत मद्मानन्द निरमल, बहत एग जल-धार ॥

गर्व बरि शान्ती मये थकि, नहि पायो पार ।

होत जा पै लहर सोइ, तरि जात यह संसार ॥१॥

( बरिष्ठा-शैशुनी )

## प्रेम-भिक्षा !

( श्रीमान् मनोरंजनमसाद सिंह )

हे प्रभो !

जय देवताओं ने तुम्हारे भेद को पाया नहीं ।

श्रोज करते थक गये पर बुद्धि में आया नहीं ।

तब शक्ति तुम्ह में है क्यों जो भेद तेरा पा सकूँ ।

हे वेद में ताकत नहीं, मैं गुण तेरा क्यों गा सकूँ ?

\* \* \*

धन की नहीं है चाह बुद्ध, यश की वहीं पर्वाह है ।

इस क्षुद्र जीवन का तुम्हारे हाथ में निर्वाह है ॥

इस दीन बालक के विनय पर हे प्रभो तुम कान दो ।

सब का करो कल्याण, तुम्हें को प्रेम पा तुम दान दो ॥



## प्रेम-पारावार परमेश्वर !

( कविवर पं० रूपनरायण पाण्डेय )

जय प्रभु प्रेम-पारावार ।

मिटत तीन्ट ताप सेवत, हुटत विषय विहार ॥

रहत तुम मरें मगन योगों, परतें धुनि को मार ।

लहत प्रह्लादन्द निरमल, परत हग जल-धार ॥

गर्ब करि शानी गये यकि, नारे पायो पार ।

होत जा पै लहर सोइ, तरि जात यह मंसार ॥१॥

( कविता-शैली )

## प्रेम-भिक्षा !

( श्रीमान् मनोरंजनप्रसाद सिंह )

हे प्रभो !

जय देवताओं ने तुम्हारे भेद को पाया नहीं ।

खोज करते थक गये पर धुल्लि में आया नहीं ।

तब शक्ति तुम्ह में ही कहों जो भेद तेरा पा सकूँ ।

हे वेद में ताकत नहीं, मैं गुरु तेरा क्यों गा सकूँ ?

• • •

धन की नहीं है चाह कुछ, यश की वहीं परवाह है ।

इस क्षुद्र जीवन का तुम्हारे हाथ में निर्वाह है ॥

इस दीन बालक के विनय पर हे प्रभो तुम कान दो ।

मय का करो कल्याण, तुम्हें ही प्रेम का तुम दान दो ॥



## “प्रेमानुनय” ॐ

“लोजिये दिल गोल कर यह प्रेम का उपहार है ।  
 विश्वसेवा कीजिये यह प्रेम का मखार है ॥  
 प्रेममय हो जाइये गुण गाइये धर प्रेम का ।  
 प्रेम-नेम निपाटिये साधन यही है प्रेम का ॥”

—रंगेन्द्र ।

प्रेम के माधुर्य की वृद्धि या उपलब्धि सभी हो सकती है जब इसका अनर्गल एवं अद्विज रूप में सर्वथा सर्वत्र प्रसार होता रहे, प्रेम-संसार के शरीरियों का यह कर्तव्य भी है कि प्रेम का सन्धय न करें बल्कि उदारतापूर्वक इसका सुधा-फलश विश्व-घाटिका की एक एक कुमुम-क्यारी में डालते फिरें । प्रेम की धारा जिस घराचरण पर बहती है वह न स्वर्ग का सा है—न अमरावती का सा है—न अलकापुरी का सा है और न लंका के दुर्गम दुर्ग का सा है—इसमें कुछ और ही विलासिता है—यह इन नयों से भी निपट निराला है—वहाँ न धन का निठाला है और न पाप का मसाला है—केवल सुशान्ति का बोल वाला है ।

यह 'प्रेमस्तयक' यदि सुरसिक्तों के मन भाया—सुदधि की वृद्धि कर सका, स्नेह-साधना सदन में सिद्धि भर सका तो उत्साहित

---

\* यह “प्रेमानुनय” प्रेम-पुष्पाञ्जलि के प्रथम संस्करण में “प्रेम-मंदिर के प्रेमी पुजारी” द्वारा लिखा गया था । इसका कुछ अंश इस तीसरे संस्करण में छोड़ दिया गया है । केवल महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अंश संकलित है ।  
 —सम्पादक ।







## “प्रेम-तत्त्व”

( साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंहजी झाव्याप )

हो के उत्कल प्रिय-मुख को मूपती-लालसा से ।  
 जो हृत्ती है हृदय-मल को जल-मल्लर्ग-शीला ।  
 सुरपाकांक्षी धरन-रुचि वा कोरि-रिज्जा बिना ही ।  
 झटाझो ने प्रलय-प्रमिवा दान की है उसी को ॥



आ सकता है अनित नलिनी एक-द्वारा-मती में ।  
 प्रेमोन्मत्ता विमल-विष्टु की हैं नहलौ चकोर ।  
 जो बाला हैं विदुत हरि ने रल वैचिज्य क्या है ?  
 प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ।



पाई जाली जगत जिवनी बस्तु है जो तदी में ।  
 मैं प्यारे को विदिव-रंग और रूप में देखती हूँ ।  
 तो मैं कैसे न उन सद को प्यार की से करूँगी ।  
 यो है मेरे हृदय-मल में विश्व का प्रेम जागा ॥

होकर ऐसे ऐसे 'परिजात खवक' रचने में विरोध रूप से 'दिग्दिमाग-दीनार' को दफन किया जायगा ।\*

'संप्रह'—इस शब्द में अप्रतिम शक्ति है । भली चीजें विचारिये । इंग्लैण्ड तथा अमेरिका इत्यादि सभ्य तथा उन्नत देशों में 'संप्रह' शब्द का अलौकिक अर्थ सभी लोग अच्छी तरह समझते हैं । यही कारण है कि अंग्रेजी साहित्य ऐसे महत्त्व का है गया कि "गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः"—वह अनुभूति भी परिवर्तित है ।

अन्धेरे की चीजें आलोक में चली आवें, सब देश की सरिताएँ मिल कर एक भागर धमड़ायें, सब झुट्ट अक्षर मिल कर एक शुद्ध मंत्र गढ़ डालें, यही मुग्धकर, यही सुखकर, यही हविष और यही अमीश्वर ।

इस प्रेमसुष्पाञ्जलि 'महोत्सव' में 'योग' देने वाले—इस प्रेमपर्यतारोहण में 'करावलम्बन' देने वाले—प्रेमी सम्पादकों और प्रेमी कवियों को प्रेमप्लुत पावन हृदय के अन्तरतम प्रदेश से साधुवाद है—प्रेमाशोर्वाद है ।


"अनेकत्व होगा न एकत्व तेरा । न एकत्व होगा अनेकत्व मेरा । न लगने तुम्हें शक्ति सर्वज्ञता की । लगो है मुझे व्याधि अल्पज्ञता की ।

दुई का घटाटोप घेरा रहेगा ।

मिटेंगे नहीं मेल मेरा रहेगा ।।"—"राक्षुर"

—रोन्द

\* अटनोन । दिग्-दिमाग—दीनार को दफन करने वाले दिग्दिमाग रोन्द रोम्बों का दिग्-दरं दुगुना कर के दुनिया से दर-दिनार हुए ।।



## “प्रेम-तत्त्व”

( साहित्यरत्न पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय )

हो के उत्कण्ठ प्रिय-सुख की भूयसी-लालसा से ।  
जो वृत्ति है हृदय-तल को आत्म-उत्सर्ग-शीला ।  
पुण्याकांक्षा धरम-रुचि वा कीर्त्ति-लिप्सा बिना ही ।  
ज्ञाताओं ने प्रणय-अभिधा दान की है उसी को ॥



आ सकता है अमित नलिनी एक-ध्याया-पती में ।  
प्रेमोन्मत्ता विमल-विधु की हैं सहस्रों चकोरी ।  
जो बाला हैं विपुल हरि में रक्त वैचित्र्य क्या है ?  
प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है ।



पाई जाती जगत जितनी वस्तु है जो सखी में ।  
में प्यारे को विविध-रंग और रूप में देखती हूँ ।  
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी ।  
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा ॥

ताराओं में विभिर-हर में बहि में औ शशी में ।  
पाई जाती परम-रुधिरा-व्योतियों हैं इसी की ।  
पृथ्वी पानी पवन नभ में पादपों में खगों में ।  
देखी जाती प्रथित प्रमुता विभ्व में व्याप्त की है ॥



प्यारी-सत्ता जगत-गत की निव्य-लीला-मयी है ।  
स्नेहों-सिक्का परम-मधुरा पूतता में पगी है ।  
ऊँची-म्यारी-सरल-मरमा ज्ञानगर्भा मनोहा ।  
पूम्हा मान्या हृदय-तल की रंजिना उज्वला है ॥



प्यारे आवे मृदु-वयन कहें प्यार से अंक लेवें ।  
ठगड़े होंवें नयन-दुस्त्र हो दूर में मोद पाऊँ ।  
ए भी है भाव हिय-तल के और ए-भाव भी हैं ।  
प्यारे जाँवें जगत-डित करें गेह चाहें न आवें ॥



“पानी हूँ विभ्व प्रियतम में  
धिरय में प्राय प्यारा ।  
एसे मैंने ‘जगत-यनि कां  
‘रवाम’ में है वितोका” ॥

(प्रणयिनी राधा)  
( विद्यमान )



## विश्व-प्रेम

“सीमा-रहित-अनन्त-गगन सा  
विस्तृत उसका ‘प्रेम’ हुआ ।  
‘जीरों का कल्याण-कार्य ही’  
उसका अपना ‘प्रेम’ हुआ ॥



हिंसक पशु भी उसे देख कर  
पैरों में पड़ जाते थे,  
मुँह में हाथ रख कर घीरे  
‘सींटी थपकी’ पाते थे !”



“रखती थी ‘प्रेमाद्रि’ सभी को  
वह अपने व्यवहारों से,  
पशु-पक्षी भी मुग्ध पाते थे  
उमकें गुहाधारों में ॥”

( शकुन्तला )

—सैफित्रीगरण

“हो सुखि, सुखि !

कतुमय मीर ?

सोई निरिंते अतुल्य मन्तविने

निद निद नूतन होय १-

—सिद्धि—

न यह मन्दिर न यह मन्तविद न है यह आनन्दमय ।  
विन्दारदुह मन्तविने उरुमय का सत्सयन १

मन्तविने निरिंते हो कर्मे शत तरु कर्मे शर देखे १  
गिा है मन्तविने के विन्दारदुह का मर देखे ॥  
अजय है मन्तविने कर्मे कर सुद कर्मे देखे ।  
नहीं हाजय दर्मे कर्मे को कर्मे मन्त कर देखे ॥

—सन्त—

“सोई के दले निरिंते जल ?  
होसिंते होसिंते निरिंते करिया,  
होसिंते जल गेल ॥”

दोहा—‘सोसिंते’



मन में प्रेम का उद्भव न होने की अपेक्षा प्रेम करके अपव्यक्त  
पात्र होना भला ।

—सादरं हेतुवत् ।



प्रम एक विजली की तरह है और प्रत्येक प्राणी के हृदय-  
कारा में यह प्रेम की विजली रह रह कर नाच बटती है । वह  
प्रेम की विजली की लहर अपने समान हृदय पात्र को पाले ही  
वमक गम्भीर हृदय में घुम जाती है । जिस प्रकार चुम्बक पात्रों  
और लाक्षा एकत्र होने पर मिल जाते हैं वसी प्रकार समान-समान  
भावों वाले हृदयों में बिना प्रयास ही निःस्वार्थ प्रेम का विकास  
हो जाता है ।

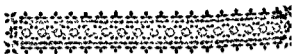
—हेतु ।



“दृग्गोने स्पर्शनेवापि  
श्रवणे चापणेऽपि वा ।  
यत्र द्रव्यसंस्पर्शं  
स स्नेह इति कथ्यते ॥”

—मुद्ररविः





## भक्त की अभिलाषा ।

तू है गगन विस्तोर्ण तो मैं एक तारा खुद्र हूँ  
 तू है महासागर अगम मैं एक धारा खुद्र हूँ ।  
 तू है महानद तुन्य तो मैं एक बूँद समान हूँ  
 तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ ॥



तू है सुखद ऋतुराज तो मैं एक छोटा फूल हूँ  
 तू है अगर दक्षिण-पवन तो कुमुम की मैं धूल हूँ ।  
 तू है सरोवर अमल तो मैं एक उसका मीन हूँ  
 तू है पिता तो पुत्र मैं तव अङ्ग में आमीन हूँ ॥



तू अगर सर्वाधार है तो मैं एक आधेय हूँ  
 आश्रय मुझे है एक तेरा, श्रेय या अश्रेय हूँ ।  
 तू है अगर सर्वेश तो मैं एक तेरा दास हूँ  
 तुझको नहीं मैं भूलता हूँ, दूर हूँ या पास हूँ ॥



तू है पतितपावन प्रकट तो मैं पतिन मराहूर हूँ  
 छल से तुझे यदि है घृणा तो मैं कपट से दूर हूँ ।  
 हे भक्ति की यदि भूख तुझको तो मुझे तव भक्ति है  
 अति प्रीति है तेरे पदों में, प्रेम है, आसक्ति है ॥





## कभी कुछ और कभी कुछ ।

(श्रीमान् कवि गोपालशरणसिंह जी)

बराबर एक पथ पर तुम नहीं चलते नहर भाते ।  
कभी इस ओर हो जाते कभी उस ओर हो जाते ॥  
कभी तो तुम हमें निज छवि-सुधा सन्तत पिलाते हो ।  
कभी फिर दर्शनों के हित हमें दिन रात तरमाते ॥१॥



कभी तो रुठ जाने पर हमें बहुविध मनाते हो ।  
कभी फिर बोलने की भी कृपा हम पर न दिखलाते ॥  
कभी आकर स्वयं हमसे विनययुक्त याचना करते ।  
कभी मम प्रार्थना को भी न तुम हो चित्त में लाते ॥२॥



कभी बन कर सुधाकर तुम सुधाधारा बहाते हो ।  
कभी विष-वारि-सूदों को निरन्तर सूख टपकाते ॥  
कभी अलि बन स्वयं पंकज-कली हमको समझते हो ।  
कभी फिर मान कर चम्पा हमारे दिग नहीं भाते ॥३॥













पूछते हों तों कहीं मैं क्या कहूँ  
 वो किमी का है निराला का गया ?  
 दर्द से मो कौते का सह  
 देखा है आग पानी बन गया ॥

ॐ  
 'याम धी इम अँल को तिमकी यो  
 वह नदी इमको सहा कोई मिला ।  
 'याम तिमसे हो गई है सौगुनी  
 वाद ! क्या अँल इमे पानी मिला ? ॥

ॐ  
 गया हों कैसा निराला यह मिला  
 भेद सारा ग्योत क्यों तुमने दिया  
 वो किमी का है नदी स्वते भरम  
 अँलुओ ! तुमने कहाँ यह क्या किया ? ॥

ॐ  
 मँकना फिरता है कोई क्यों कुँआ  
 है फँसे इम रोग में छोटे बड़े  
 है इमी दिल से तो वह पैदा हुआ  
 क्यों न अँलू का अमर दिल पर पड़े ? ॥

ॐ  
 बात अपनी ही सुनाते हैं सभी  
 पर छिपाये भेद छिपना है कहीं



क्या हुआ अंधेर लेगा है कहीं  
 सब गया कुछ भी नहीं अब रह गया  
 हूँ तो हैं पर हों मिगना नहीं  
 "आँसुओं में दिन हमारा बह गया" ॥

क्यों नहीं अब और भी रो रो मरे  
 सब तक इनको अंधेरा रह गया  
 क्या विचारी हूँ बनी आँसुओं में  
 "दिन तो था ही आँसुओं में बह गया" ॥

पास हो क्यों कान के जाने चले  
 किस लिए प्यारे कपोलों पर चढ़ो  
 क्यों मुझसे सामने रह कर जजे  
 "आँसुओं में आकर कलेजे पर पड़ो" ॥

आँसु का आँसु बनी मैं पर गिरी  
 धूलि पर आकर वहीं बह स्यो गई  
 "बाह थी जितनी कलेजे में भरी  
 देखता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिल से निकले अब कपोलों पर चढ़ो  
 बात बिगड़ी क्या भला बन जायगी

ऐ ! हमारे आँसुओं !! आगे बढ़ो  
आप की गर्मी न यह रह जायगी ॥

“वृंद गिरते देख कर यों मन कष्टो  
आँख तेंनी गढ़ गई या लड़ गई  
जो समझते ही नहीं तो चुप रहो  
कंफरी इस आँख में है पड़ गई” ॥

देख करके और का होते भला  
आँख जो बिनु आग ही यों जल मरे  
दूर से आँसू समझ कर तो बला  
पर उसे कैसे भला ठण्डा करे ॥

पाप करते हैं न डरते हैं कभी  
चोट इस दिल से कभी खाई नहीं  
मोच कर अपनी बुरी करनी सभी  
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥

हे हमारे आँसुओं की भी न हृद  
हाथ ! गरदन भी छुपर फिरती नहीं  
देख कर के दूसरों का दुख दरद  
आँख से दो वृंद भां गिरती नहीं ॥

क्या हुआ अंधेर ऐसा है कहीं  
 सब मया कुछ भी नहीं अब रह गया  
 दुँडने है पर हमें भिजना नहीं  
 "आँसुओं में दिन हमारा बह गया" ॥

क्यों नहीं अब और भी रो रो सरो  
 सब तरफ उनको अपेक्षा रह गया  
 क्या बिचारी दुबली आँसों करे  
 "जिज तो या हो आँसुओं में बह गया" ॥

पास हो क्यों कान के आते बजे  
 किस लिए प्यारे कण्ठों पर अड़ो  
 क्यों तुम्हारे सामने रह कर जजे  
 "आँसुओं का कर कण्ठों पर पड़ो" ॥

आँस का आँसू बनी मैं पर गिरी  
 धूलि पर आकर बही बह खो गई  
 "बाह थी जितनी कज्जे में भरी  
 देखता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिल से निकले अब कपोलों पर अड़ो  
 आल बिगड़ी क्या भला बन आयगी

ऐ ! हमारे आँसुओ !! आगे बढ़ो  
आप की गरमी न यह रह जायगी ॥

ॐ  
"बूंद गिरते देख कर यों मत कहो  
आँख तेरी गड़ गई या लड़ गई  
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो  
कंकरी इस आँख में है पड़ गई" ॥

ॐ  
देख करके और फा होते भला  
आँख जो बिनु आग ही यों जल भरे  
दूर से आँसू छमड़ कर तो चला  
पर उसे कैसे भला ठण्डा करे ॥

ॐ  
पाप करते हैं न डरते हैं कभी  
चोट इस दिल से कभी खाई नहीं  
मोच कर अपनी बुरी करनी सभी  
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥

ॐ  
है हमारे औगुनों की भी न हद  
हाय ! गरदन भी छधर फिरती नहीं  
देख कर के दूसरों का दुख दरद  
आँख से दो बूंद भी गिरती नहीं ॥



कया हुआ अंधेर मेमा है कही  
 सब कया कुछ भी नहीं अब रह गया  
 होने है पर हां निगमा नहीं  
 "असुप्तों में दिन हमारा रह गया" ॥

कया नहीं अब और भी रो रो करे  
 सब ताकत उनको अंधेरा रह गया  
 कया बिचारी दुखनी अग्नि करे  
 "निज तो था ही असुप्तों में रह गया" ॥

पास हो कया कान के जाने जजे  
 किस लिए त्वारे कपालों पर अज्ञे  
 कया सुन्दारं मामने रह कर जजे  
 "असुप्तों आकर कलेजे पर पड़े" ॥

असि का असि बनी मैं पर गिरी  
 धूलि पर आकर बड़ी यह खो गई  
 "बाहू थी जितनी कजेजे में भरी  
 देवता हैं आज मिट्टी हो गई" ॥

दिल से निकले अब कपालों पर पड़े  
 यात बिगड़ी कया भला बन जायगा

ते ! हमारे आँसुओं !! आगे बढ़ो  
आप ही गर्मी न यात रह लायगी ॥

ॐ  
"चूँच गिरते देख कर यों मन काँटो  
आँसु तेरी गढ़ गई या लड़ गई  
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो  
कंठरी इस आँसु में ही पढ़ गई" ॥

ॐ  
देख करके और या होते भला  
आँसु जो दिनु आग ही यों जल मरे  
दूर से आँसु समझ कर तो बला  
पर उसे कैसे भला ठगता करे ॥

ॐ  
पाप करते हैं न हरते हैं कभी  
चोट इस दिल से कभी खाई नहीं  
मोच कर अपनी चुरी करनी सभी  
यह हमारी आँसु भर आई नहीं ॥

ॐ  
हे हमारे आँसुओं को भी न हूँ  
हाथ ! गरदन भी उधर फिरती नहीं  
देख कर के दूसरों का दुख दरद  
आँसु से दो चूँच भाँ गिरती नहीं ॥

क्या हुआ अंधेरा तेरा है कहीं  
 अब गया कुछ भी नहीं अब रह गया  
 खूँने है पर हमें मिलना नहीं  
 "आँसुओं में दिल हमारा बह गया" ॥

क्यों नहीं अब और भी रो रो गईं  
 सब तरफ़ इनको अंधेरा रह गया  
 क्या बिचारी डूबती आँसों के  
 "जित तो या ही आँसुओं में बह गया" ॥

पास हो क्यों जान के जाने बजे  
 किम लिए प्यारे कपालों पर अड़ी  
 क्यों तुम्हारे सामने रह कर जजे  
 "आँसुओं! आकर कलेजे पर पड़ो" ॥

आँस का आँसू बनी मैं पर गिरी  
 धूलि पर आकर बड़ी बह खो गई  
 "बाहूँ जितनी कलेजे में भरी  
 देवता हूँ आज मिट्टी हो गई" ॥

दिल से निकले अब कपालों पर अड़ी  
 सात बिगड़ी क्या भला बन आयगी

ये ! हमारे आँसुओं !! आगे बढ़ो  
आप की गरमी न यह रह जायगी ॥

ॐ  
“बूंद गिरते देख कर यों मत कहो  
आँख तेरी गड़ गई या लड़ गई  
जो समझते हो नहीं तो चुप रहो  
कंकरी इस आँख में है पड़ गई” ॥

ॐ  
देख करके और का होते भला  
आँख जो विनु आग ही यों जल मरे  
दूर से आँसू छमड़ कर तो चला  
पर उसे कैसे भला ठण्डा करे ॥

ॐ  
पाप करते हैं न डरते हैं कभी  
चोट इस दिल से कभी खाई नहीं  
मोच कर अपनी बुरी करनी सभी  
यह हमारी आँख भर आई नहीं ॥

ॐ  
है हमारे आँसुओं की भी न हद  
हाय ! गरदन भी छधर फिरती नहीं  
देख कर के दूसरों का दुख दरद  
आँख से दो बूंद भी गिरती नहीं ॥





## प्रेम-पञ्चदशी ।

प्रेम न याड़ी ऊपलै, प्रेम न हाट विकाय ।  
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय ॥१॥  
द्विनहिं घटे द्विन उतरै, सो तो प्रेम न होय ।  
अघट प्रेम-पिखर घसे, प्रेम कहावै सोय ॥२॥  
प्रेम प्रेम सब कोइ कहै, प्रेम न घीन्है कोय ।  
आठ पहर भीना रहै, प्रेम कहावै सोय ॥३॥  
जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं ।  
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं ॥४॥  
जा घट प्रेम न संघरै, सो घट जान मसान ।  
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत यिन प्रान ॥५॥  
प्रेम तो ऐसा कीजियो, जैसे चन्द्र चकोर ।  
धींच दृष्टि मुँहें मों गिरै, चितवै बाही ओर ॥६॥  
जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न बुद्धि व्यौहार ।  
प्रेम मगन जब मन भया, कौन गिनै तिथि वार ॥७॥  
प्रेम द्विपाया ना द्विपै, जा घट पर घट होय ।  
जो पै मुख बोले नहीं, नैन देव हैं रोय ॥८॥











"कुछ कहे उन नैरा दीपों को सुधी,  
प्रकृति-कनका-कण कहेंगे हम उन्हें ॥



जोम के वे रत्न देखे हैं कभी ?  
गोद माले हैं सुमन जिनसे ममी ।  
हैं तुम्हारे लोचनों में भी बही,  
विश्व के भांडार भर जायें अभी ॥



स्वामि-जज्ञ को गीब का मुँह मुत्त रहा;  
और जानक भी अभी पर मुत्त रहा ।  
पर तुम्हारे एक ही हग-विन्दु में,  
देख लो, मध लोचक का मुँह मुत्त रहा ॥



"वमक कर तब प्रभु-पदों तक जायगा,  
मुग्धगी का रूप लेकर जायगा" ।  
एक ही सम विमल हग-जज्ञ-विन्दु में,  
मृष्टि होंगी, मर-जज्ञवि लय जायगा ॥



हृदय का अविरोध अर्थों से करे,  
गजगजेय कतंगे हं नंगे ...

यदि न ऐसा कर सके तो हृदय बनो,  
हृदय नहीं, जति लो बहो मनो ॥



नष्ट हो जीवन लोभन-रुष्टि में,  
दुःख क्यों हो नीचियों की शक्ति में ?  
मंगलों हैं ईश में सारक क्यों,  
जब तुम्हारा एक करण-रुष्टि में ॥



'जब तुम्हारा जो पना नहीं,  
पत्थरों की सार सब कहना नहीं'  
और तुम वह भी न कहना जानो—  
वह सदा सब शाय ! वह पना क्यों ॥

(सामन्ती)





यदि मरेना ह्य मरे तो हृदय दना,  
हृदय नरो, जीवे दरो, धारो मरो ॥

ॐ

यह तो जीवन मोखन-रुहे मे,  
जीन दरो तो मोखियो को नृहे मे ।  
भोगो हे मेरा भी यत्नक दरो,  
जब तुमही एक करण-रुहि मे ॥

ॐ

'मेरे तुमही तो यज्ञ नरो,  
यज्ञो तो यज्ञ नर यज्ञ नरो'  
और तुम यह भी न करण जन्म मे—  
यह यज्ञ नर यज्ञ ! यह यज्ञ नरो ॥

(कवयत्री)

ॐ

“कुछ कहें वन नैरा दीपों को सुधी,  
प्रकृति-करुणा-कण कहेंगे हम उन्हें ॥



ओस के बें रत्न देखे हैं कभी ?  
गोद भरते हैं सुमन जिनसे समी ।  
हैं तुम्हारे लोचनों में भी वहां,  
विश्व के भांडार भर जावें अभी ॥



स्वाति-जल को सीप का मुँह खुल रहा,  
और चातक भी उसी पर तुल रहा ।  
पर तुम्हारे एक ही दृग-विन्दु से,  
देख लो, मय लोक का मुँह धुल रहा ॥



“उमड़ कर जब प्रसु-पक्षों तक जायगा,  
सुरसरी का रूप लेकर आयगा” ।  
एक ही वम विमल दृग-जल-विन्दु में,  
मुक्ति होगी, भव-जलधि लय पायगा ॥



हृदय का अभिप्रेक आँसुओं से करो,  
गजराजेश्वर बनोगे हे नरो !”

प्रथम अध्यायः

यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं,  
तदा शरीरं शरीरं तदा शरीरं ॥

॥

यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं,  
यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं ॥  
यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं,  
यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं ॥

॥

यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं,  
यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं ॥  
यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं,  
यदि न शीतं तदा शरीरं तदा शरीरं ॥

(समाप्तः)

॥ ० ॥





प्रेम-पुष्पाञ्जलि ।

चंचल चपलता से भरी जो चपल अतिराय मीन है ।  
वह प्रेम-वश विलकुल विचारी नीर के आधीन है ॥



जो कमल अपनी छटा में पा रहा था सुख नया ।  
पल में विकल होकर वही रवि के बिना मुरझा गया ॥  
घातक विचारा भी इसी जंजाल में जकड़ा हुआ ।  
मग्न छोड़ कर केवल तनिक सी वृद्ध पर अकड़ा हुआ ॥



चौकड़ी सब भूल कर उन्मत्त होकर नाद में ।  
प्राण देता है हिरन इस प्रेम ही के स्वाद में ॥  
इस प्रेम के आगे बड़े बलवान भी नुकते रहे ।  
जल पवन पावक इसी के तेज से रुकते रहे ॥



जो मानिनी आमोदमय मद में भदन के चूर थी ।  
आर्धानता उसको किसी की कुद्व नहीं मंजूर थी ॥  
भूली हुई थी जगत को मन के निराले रंग में ।  
मद से भरा मातंग भी उसके न था पासंग में ॥



छोड़ कर अभिमान को नव नागरी अब तो वही ।  
प्रेम के बाजार में बे दाम विलकुल विक रही ॥







## विकसित कुमुम ।

(कविवर पं० रूपनागयण पाण्डेय "कमलाकर")

आओ ! कुमुम कामनीय !! बतों बसों

पूतों नहीं ममाते हो ।

हुल विचित्र ही रङ्ग दिग्गते

मन्द मन्द मुमुकाते हो ?



हम भी तो हुल सुनें किस लिये

इतना है च्छास तुम्हें ?

बात बात में मिल मिल कर तुम

किसकी हँसी उड़ाते हो ?



कैसी हवा सगी यह तुमको

हरिषः विभव में भूतो मत

अमो सपेरा है हुल सोचो

अवसर व्यर्थ गँवाते हो ।



रूप रङ्ग रस जिस के बल पर

पैर न भू पर तुम रखते



रसिकों का शृंगार मद्भ्रम है  
या जो मन में लाते हो ।

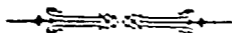
ॐ

रसिक और रसिकाएँ तुम्हको  
छादर से अपनावेंगी  
बना गले का द्वार रूँगा  
यही मोष इतराते हो ।

ॐ

तो इस पर भी तुम्हें फूलना  
या इतराज उचित नहीं  
धन्यवाद दो मुझ कर उसको  
जिसका रूप दिखाते हो ।

( साम्प्रती । )







रसिकों का शृंगार सहज है  
यह जो मन में लाते हो ।

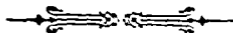
ॐ

रसिक और रसिकाएँ तुम्हको  
आदर से अपनावेंगी  
बना गले का हार रहूँगा  
यही सोच इतराते हो ।

ॐ

तो इस पर भी तुम्हें फूलना  
या इतराज उचित नहीं  
घन्यवाद दो झुक कर उसको  
जिसका रूप दिखाते हो ।

( सरस्वती । )



है दम भर का दृश्य जगत में  
क्यों इतना इतराते हो ?



मौंरा रसिक पास आ आ कर  
करता है प्रार्थना अगर  
तो क्यों नहीं प्रेम से मिल कर  
अपना उसे बनाते हो ।



मौंरा काला है कुरूप है  
हम हैं सुन्दर मत समझो  
बस वसंत का है यह साथी  
जिस के तुम कहलाते हो ।



कर अपमोग और सब तुम को  
इधर उधर रस देते हैं  
पर मद सिर धुनना है जब तुम  
दत्ते मले कुम्हलाते हो ।



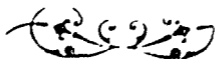
बोमज हैं कमनीय कलेवर  
देवों के मन भाया हैं

## प्रेम का अद्भुत व्यवहार !

अद्भुत प्रेम का व्यवहार !

प्रेम किये नर परमेश होई पर धै निज अधिकार ॥  
 प्रेम लिये नहि विगमन कहु है किये नाहि संहार ।  
 प्रेमहि सो रवि मारी जगत है फूलन फूल जगार ॥  
 पीन अलम, प्रेमहि सो सागर, मंदी जगजयवार ।  
 नभ सो सागर मिलन और नभ सागर मिलन अपार ॥  
 प्रेमहि सो पथर हु पिघलन यहनि नदी की धार ।  
 सख लोक प्रथिपी धै आवन गृभी जान मुर द्वार ॥  
 प्रेम गीन गैजग नभ, लारी प्रेम किरन मंगार ।  
 प्रेमी बनहु धैगि अथ प्यार प्रेम जगत का मार ॥

—वर्णन पं० जगन्नाथप्रसादजी शर्मादेवी (मध्यांदा)



यह वायु चलती बेग से, ये देखिये तहवर मुझे।  
हे आप अपनी पत्तियों में हर्ष से जाते लुके।  
क्यों शोर करती है नदी, हो भीत परावार में ?  
वह जा रही उस ओर क्यों ? एकान्त सारी धार से ?  
वह प्रेम है, वह प्रेम है वह प्रेम है, वह प्रेम है।



यह देखिये, अरविन्द में शिशुवृन्द कैसे मो रहे।  
हे नेत्र माता के इन्हे लम्ब वृम कैसे हो रहे  
क्यों खेजना, मीना, रुदन करना, विहँसना आदि सब  
देना अपरिमित हर्ष उमकों, देख्यही वह इन्हे जब ?  
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है।



हे वायु से यह बेल डिल्ली, बेल में कल हिल रहे,  
हे इन कलों के साथ हिलते, फूल कैसे भिन रहे।  
सब एक होकर नाचने हैं, पत्तियों के गान पर।  
कैसा प्रमोद मना रहे, समार सुखमय मान कर ॥  
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है।



सम दूरवनी संग में वे गाय कैसी कर रही,  
वे बजडिया हैं हृद हृद कजोत कैसी कर रही।

इस नीम के नीचे पड़ा यह श्यामिदा ही गा रहा ।  
वैसा यहाँ छपनी जगोन्नी मधुर तान सुना रहा ॥  
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।



"गाते हुए हल जोतते, मन्मोष सुग मे जो मने,  
वे देवतिहर हैं, आप छपने खेत के राजा बने ।  
हैं दीन, मे भी बड़ा हुआ, सौजन्य-भी-मन्मथ है ।  
भूरे रहे मुद आप पर देते सबों को खस हैं !"  
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।



गर-भूमि का तो देविदे, ये वीर कैसे डट रहे ।  
वर 'आत्मन्याग' सदेश के हित खेत बन कर कट रहे,  
उन का पराक्रम, शौर्य अनुकरणीय होगा, लोक में ।  
आहादकारों हर्ष में हों धैर्यदायी शोक में—  
यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है, यह प्रेम है ।



इस प्रेम के ही हाथ से  
गरदन हजारों कट गई,  
हाँ, छातियाँ आघात के ही  
बिन हजारों फट गईं ।



प्यारे कमल ! ने हो ऐसे कठिन कहां क्यों ?  
 पाकर विकाश वैभव भीतर मलिन रहो क्यों ?  
 इस रूप रङ्ग पर हों फूले नहीं समाते ।  
 सुनते न दूररे की अपनी नहीं सुनाते ॥



माना कि तुम हो अनुपम तुम मा न दूसरा है ।  
 मौदर्य्य और रम भी हर अङ्ग में मरा है ॥  
 लेकिन नहीं है जब तक उपभोग करने वाला ।  
 तूम मा मधुर रसीला नागर नया निराला ॥



नब तक सभी वृथा है कुछ भा गया नहीं है ।  
 मन्वसि मूम की उयां रक्यां हुई कहीं है ॥  
 बादल न हों तो बिजली शोभा कहां में पावे ?  
 टे जौहरी न तो मणि आधा किसे दिखाने ?



हाँ हो अक्षर को जो आहूत न खंडमा को  
 तो बीज फिर बढ़ाये मदिमा सुपूर्तिमा की ?  
 अगवा वसंत का जो सरसङ्ग हो न जाये  
 हृदि बीज फिर लता की क्षान्तिप दे बढ़ाये ?

हो निज सूर्य में है बस पर मगर न भूलो  
वन्दे विशाल वैभव को देख कर न भूलो  
वैभव समस्त वनशा दिन भर में बस्य होगा  
तब नन्द प्रेम से न्द न्दुकर ही व्यस्त होगा ।



"सिख सूर्य तो तुम्हारे मस्तक के चार है बस,  
नद तक तिमरे रहोगे अब तक रहेगा कुछ रस ।  
तब तक तुम्हारे ऊपर जन्ही रहेंगे छाया  
झोंगी रात अब तब चल देंगे छोड़ जाया" ।



"नदुकर मगर रहेगा नाथी नदी तुम्हारा ।  
दे देगा लज भी पर होगा कभी न न्यारा" ।  
"है दूर से तुम्हारी पा कर तुम्हें छाया ।  
तुम से मगर न इसने कदर लरा भी पाया ॥  
नद भी कही ! तुम्हारी करण कही कही  
तुम को भी अब उचित है देखो नही कही



सुन्दर कर सिन्धो निन्धो भी  
दइ सोच किस सिन्धे है !  
चाहे भी बसही चाहे  
संशोच किस सिन्धे है ! ।

— "सूर्य वनमन्त्र" । १२३





( १० )

एतन्मूर्तिं तस्मिन् विद्यमानं संपूर्णं रूपं संपूर्णं दे,  
साक्षात्पुत्रिणीं वीणां च त्रिंशत्तमं तस्मिन् संपूर्णं दे ।  
मन्त्र, एतन्मूर्तिं संपूर्णं रूपं संपूर्णं संपूर्णं रूपं दे,  
त्रिंशत्तमं तस्मिन् संपूर्णं रूपं संपूर्णं संपूर्णं दे ।

( ११ )

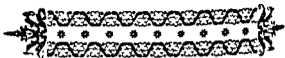
मूर्तिं विद्यमानं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे,  
संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे ।  
संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे,  
संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे ॥

( १२ )

भक्त-संज्ञानं मूर्तिं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे,  
संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे ।  
संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे,  
संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं संपूर्णं रूपं दे ॥

(दाशरथीशर)





## प्रेम ।

(कविवर गोपालशरणसिंह जी)

धन जाओ तुम प्रेम । हमारे मंजु गले का द्वार ।  
तन, धन, जीवन जो कुछ चाहो दें हम तुम पर वार ।  
तुम को पाकर क्यों न भला हम हो जावेंगे धन्य ?  
सच कहते हैं, तुम्हें मानते हम जीवन का सार ॥



जो जी में चाहे सो देना सदा रहेंगे तुष्ट ।  
मंगिने हम कभी न तुम से कोई भी उपहार ।  
जहाँ हमारे हृदय-धाम में हुआ तुम्हारा वास ;  
तहाँ शीघ्र हम हो जावेंगे निश्चय बंध बंधार ॥



मानम पहुँच विक्रमाने को तुम हो सूर्य-ममान ;  
ज्यों न करोगे हमें भला फिर हर्षोत्कृष्ट अपार ;  
ममी मंडुचित भाव हमारे कर दोगे तुम दूर ;  
बन्धु-ममान हमें विष होगा बह सारा संभार ॥

सन्तानें, बन्धन, सुखें वा दुःखें हीं जहाँ पहुँचाना सिका ।  
जहाँ बन्धन हैतहाँ बन्धन विना सुखहाँ धरत ।  
निरा, धरिणी, नीर, मर, धरणी, नीर, धरणी, धरणी,  
मरत सुखहाँ धरत बन्धन । हीं हीं जहाँ धरत धरत ।



जहाँ न हीं हीं बन्धन सुखें धरत धरतें मरत धरतें धरतें ।  
सुखें धरतें जहाँ हीं हीं धरतें धरतें धरतें धरतें ।  
धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें ।  
धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें धरतें ।



## प्रेममय मिलन ।

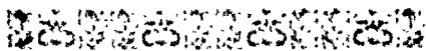
हैं पलक परदे बिचे बरुणी मधुर आवाज से ।  
अधु-मुक्ता की लगी माला खुले दर द्वार में ॥  
चित्त-मन्दिर में अमल आलोक कैसा हो रहा !  
पुतलियों प्रहरों बनी जो सौम्य हैं आकार में ॥



मुद-मृदङ्ग मनोहर स्वर में बज रहा है ताल में ।  
कल्पना-वीणा बजा हर एक अपने ताल में ॥  
इन्द्रियों दामो सदरा अरुनी भगइ पर मन्त्र हैं ।  
मिल रहा 'गृहपति' सदरा यह शरण प्राणधार में ॥

—भी मयराज शर्मा (श्री)





### प्रेम-रसमय ।

हेतु म ममनु गोर दिग, पोर नी नी नाम ।  
 दरदयन को मंड. ली, रीन हेतु विभग ॥१॥  
 असमन अगसा प्रेम को, पतिने हेतु अगार ।  
 सुन्दर सुन्दर तट सीत को, एष अजलोको जाइ ॥२॥  
 अहृत गति यह प्रेम को मीजन परी न जाय ।  
 दरस भूय लामे रगत भूयदि पंत भगाय ॥३॥  
 प्रेम नगर में एग यया सोये प्रगटे आइ ।  
 सो मन को वरि एष मन भाव देत ठहराइ ॥४॥  
 न्यारो पैको प्रेम को अदसा धरी न पाव ।  
 गिर ये पेंदे कावत पली जाय ली जाय ॥५॥  
 अहृत गति यहि प्रेम को लखी सनही आइ ।  
 लुरे वही, लुरे वही वही गोट परि जाइ ॥६॥  
 अहृत पात सनह को सुनी सनहा आइ ।  
 जाका सुधि आवै दिये सपही सुध सुध जाइ ॥७॥

—“रामनिधि” .











दूर हो जाय शरीर वस्त्रों को,   
 शायना द्वारा होवे शरीर-प्रीत को ॥

•

“मेरा का हीन शरीर भोजे रहो :”   
 निरुपेक्षा विधी का शरीर-प्रीत को ।   
 “हनु है हिन्दू के पूज्य हिन्दू शरीर”   
 “पैर का पूज्य शरीर का शरीर” ॥

•

“राधिकादास की भक्ति ही मे भरे ;   
 शरीर-प्रीत को, पैर पूरी करे ।   
 प्रेम का प्रेमियों में पसारा रहे ।   
 शरीर-प्रीत मिली प्रेम-धारा रहे ।

•

एकता के सभी गीत गाते बने :   
 प्रेम के रंग में भक्त गाते बने ।   
 मित्रियों के पदों को बढ़ाते बने,   
 जोर ही जो पताका बढ़ाते बने ॥

( दशम, शतकः )





## प्रेम !

क्यों पीड़ा देने को विधि में रखा प्रेम निधि है निर्मल ?  
स्वप्न-बोगल घर के फिर क्यों बिना कल्पित पुत्र बनल ?  
दूरे प्रथम जन्म-जन्म में तब मिलना प्रेम रत्न निर्मल,  
क्यों मनुष्य-पत्न पत्नता-कसमें क्यों कर्षक-लग्न-भ बेचल !  
प्रेम दूर से ही सुन्दर है यथा पञ्चला लोक-चपल ।  
माल में जो कृति अनुपम है मन्त्रों में है हीमानल ॥  
जीवन-काल में मरीचिका मोहमयी है नशा प्रचल ।  
क्यों ! क्यों जो प्रेम चाहता घर चाहता उपल में जल ॥  
आज प्रेम जो पान करेगा हृद्य ! आज घर सुधा सरल ।  
कन विरहानल में पायेगा हमे क्षु-भल और गल ॥

—“नयन” ( गारमरी )





प्रेम अक्षय है, अमय है, प्रेम आदरणीय है ।  
प्रेम योग, वियोग, तप, मंयोग-फल कमनीय है ॥



शुद्ध सात्त्विक लोक-पावन प्रेम सञ्चा है जहाँ ।  
हाँ, वहाँ फिर स्वार्थपरता छल-कपट-कौशल वहाँ ॥  
प्रेम-पथ के प्रिय पथिक संसार-हित करते रहें ।  
मंकेटों का सामना साहम महित करते रहें ॥



प्रेम का थदला, नहीं संसार की सम्पत्ति है ।  
प्रेम ही से प्रेम की होती अधिक प्रतिपत्ति है ॥  
प्रेम-धन पाकर अकिञ्चन भी मुर्खी स्वाधीन है ।  
प्रेम-धन-वञ्चित पुण्ड्र हीन से भी हीन है ॥



मोम पत्थर को करे इस प्रेम में वह शक्ति है ।  
शत्रु भी हो मित्र, जो क्रुद्ध भावना की भक्ति है ॥  
हो सके सम्भव असम्भव प्रेम-कार्य-कलाप से ।  
हाँ, अयोग्य-सुयोग्य बनता प्रेम-पुण्य-प्रताप से ॥



पद् प्रलोभन में अही प्रेमी भटकते हैं नहीं ।  
हाय हाय मचाय हरदम सिर पटकते हैं नहीं ॥

सब प्रकार विकार से बच कर मला करते रहे।  
 तबखरीं दुगों के बान्ने मरने रहे ॥

ॐ

प्रम ही मोन्दर्य है, मोन्दर्य ही बस सांग है।  
 दब-दुपोंम प्रेम ही से प्राय पद अपवर्ग है ॥  
 प्रम-हीन हृदय अहो शयमुच उजाड़ ममान है।  
 एम त्रिमये रे नहा प्रयस्य वह शैलान है ॥

ॐ

प्रम-विविक्त ही प्रहृत 'अद्वैत' को है जानना।  
 एम का समार में सर्वत्र सब में मानना ॥  
 रे न एमक विल में द्विमा प्रवृत्ति बर्तीयमी।  
 रे एम सब ही जगद विरंजरा की चारणमी ॥

ॐ

एम व चा-वचार में बलटा नियम दूजा गया।  
 एम वरदन्वना में पूर्ण सुख लेया गया ॥  
 मोर वर सबस द्विष का, चात सारी हाथ है।  
 एम व एम वर गुरु-श्रमस धनाथ है ॥

ॐ

एम व वन्द्य आत्मा का, अक्षर-विड एम है  
 एम एम श्रम का वन्दस मद-वन्दस वर है ॥

हृदय-द्वेष-भीति-प्रभु-शक्ति-प्रकाश-सं  
 लोक-के-आकाश-मनो-लोक-द्वेष-प्रकाश-सं ॥

॥३॥

द्वेष-निवृत्त-आपना-आपना-का-पश्य-ई ॥  
 द्वेष-गृह-आपना-वृत्त-के-अस-आपना-ई ॥  
 द्वेष-के-आपना-में-आपना-मती-ई, आश-ई ॥  
 आपना-ही-प्रेम-के-वा-स्वभाव-स्वभाव-ई ॥

॥४॥

विन्दु-द्वेष-जिह्व-आपना-के-द्वेष-में-हृदय-स्वभाव-ई ॥  
 आपना-ही, यह-ई-द्वेष-स्वभाव-ज-द्वेष-स्वभाव-ई ॥  
 दृष्टान्त-पर-अपेक्षा-मूल-द्वेष-स्वभाव-नहीं ॥  
 स्वभाव-के-द्वेष-आपना, मुग्ध-ही-स्वभाव-नहीं ॥

॥५॥

स्वभाव-वृत्ति-द्वेष-द्वेष-आपना-की-वृत्ति-ई ॥  
 ई-स्वभाव-की-यह-नहीं, स्वभाव-न-वृत्ति-न-वृत्ति-ई ॥  
 आपना-ई-यह-द्वेष-आपना-स्वभाव-के-‘आपना-ई ॥  
 आपना-में-वृत्ति-न-वृत्ति, क्योंकि-आपना-नाल-ई ॥

॥६॥

द्वेष-ही-स्वभाव-स्वभाव, तब-तब-स्वभाव-की-कला ॥  
 मेल-में-यह-‘मेल’-ही-नहीं-वृत्ति-भला ॥





## प्रेम-चन्धन ।

प्रेम । तेरा साथ जो होता न जग में प्रति पड़ी ।  
 किस तरह तो महन करने—यातना इतनी कड़ी ?  
 'हे अलभ्य पदार्थ तू ही मृष्टि में' यह जान कर ।  
 मान करते हैं सभी तब पूज्यता पहचान कर ॥

॥३॥

दे रहा है तू हमें, शिक्षा अनोखी निर नई ।  
 जो अभी मावेछ । हम से है नहीं जानी गई ॥  
 तब दयामय दृष्टि से हम जन्म में पाले गये ।  
 मोददा मा की मनोहर गोद में डाले गये ॥

॥४॥

पूण्य पति, पत्नी, पिता, मुल, शिष्य, गुरु, इनकी कथा ।  
 किस तरह बर्णन करे, जो प्रेम-मय है सर्वथा ॥  
 बाल शूद्र मुखा रंगे हैं, प्रेम ही के रङ्ग में ।  
 दिन बिताने हर्ष में हैं, श्रियवर्गों के मङ्ग में ॥

॥५॥

प्रेम ही से है लगा-नर निरन्ध्र कलनं कलने ।  
 मन गत्र की धीनि, प्यारे साथ से है मूलने ॥

संस्कृत-शब्द-कोश-प्रस्तावना

श्लोकः

संस्कृत-शब्द-कोश-प्रस्तावना

श्लोकः

संस्कृत-शब्द-कोश-प्रस्तावना

श्लोकः

संस्कृत-शब्द-कोश-प्रस्तावना

श्लोकः

संस्कृत-शब्द-कोश-प्रस्तावना





## प्रेम ।

( रवि—बापू ब्रजनन्दन सराय "ब्रजवल्लभ" )

जो कन्दना, जो लालना, जो सोम, मोद विषार हैं,  
मानव-हृदय के घीष कगते प्रेम के उद्धार हैं ।  
है प्रेम जग का आदि कर्ता, नृष्टि का यह मार है,  
है विश्व का पोषक, समर्थक ईश का आकार है ॥



मद भेद्य कायों का जगत में प्रेम ही उद्देश है,  
नम्र, योग, जन, तप, ध्यान का यह प्रेम ही अवशेष है ।  
आनन्द आध्यात्मिक अनुभूति का यही भाण्डार है,  
यम धर्म कर्म पवित्र का यह प्रेम ही आधार है ॥



है प्रेम के आर्यान्त नभ में जगमगाती तारिका,  
हैं बोलती वन में 'लगन' बरा कोकिला शुक सारिका ।  
है प्रेम-सञ्जातदः समीरण का विदित संसार में,  
नभ में राशी, रवि भ्रमण करते शुद्ध प्रेम-प्रचार में ॥



कर भेद गिरिवर-गात्र को, अविषत अलौकिक टेक से,  
जाती जलधि को ओर नदियाँ प्रेम के छद्रेक से ।







प्रेम-सुखाभ्यास !

.....

(विद्यमान परिहृत [अप्रमाण्यही] [विद्याही] )

३- वसिष्ठा ३-

मनु के गरी के बापु के गरी कदुपके को,  
 पुत्रका न, नाना कदुपका नाना नैव को।  
 तामा न-पके सदा कोषा कि मेषुके के  
 दणा सविके नाना सुखके केर को।  
 दार दार केहु साना के वै स्वकि कदु,  
 गरी के स कदुके सवका किरे को।  
 विद्याही विदि ही द पारी के कोहि ज को।  
 जत ही कदुके हीरे विदका सकेह को ॥१॥

३- सयैया ३-

मनु के कदुपके कोषके सानुके  
 कदुके नाना सुकि कोषके को।  
 मंगल के ही के कोके कदुके  
 कदुके ही के नाना सुख-कदुके को  
 केहि कदुपके हीके सुखके  
 कोषके को सवके विद्याके मंगल को।  
 कोषके कदुके ही सुख-कदुके  
 हीके ही जत के सुख-कदुके को ॥१॥

—३५—





## प्रेमानुभव ।

शै शंग हो पतंग शीत के समीप जाय  
वारिज दैधाय सुख दरद न मानई ।  
सुनि कै विपंचो घुनि विरिख सई हरंग  
मनो पति संग रहे दुख को न जानई ।  
नरो हीन हीन पनी, नोन वारि सो विहीन  
सै कै नलीन अति दीनता बितानई ।  
पावक मधूर मन नेह के सनेह जयो  
जायो लगे नेह सोई देह भले जानई ॥

—रसकुमुनाकर ।

## प्रेम की शक्ति ।

मैं यह कहता हूँ कि दैठ, और दिल यह कहता है संभल ।  
झूठ कहता हूँ नहीं, और पैर कहते हैं कि चल ॥  
दोरा किस को है ? क्यों जाता, छिपर आता हूँ मैं !  
एक शली हूँ जिधर लीचे उधर जाता हूँ मैं ॥

— नायक ।

कर्मण्येवाङ्घ्रिभ्यः ।  
 भवतु भवदर्थम् मे मनः  
 —————  
 त्वदीप वस्तु गोविन्द,  
 मुम्यमेव समर्प्यते ।

मुद्रक.  
 पा० विरपम्भरनाथ भार्गव  
 स्टैण्डर्ड प्रेस, प्रयाग









7  
8  
9





संस्कृत का भाषा के शब्द का समान प्रमाण मिलती है। का  
काल है। ये शब्द हैं मरम् है। हृदय की बिजली के रूप हुए  
कल्पिते हुए हैं। भाषा के शब्द की दिशा मरम् है, संस्कृत  
की शैली है।

नवगिणी—ये शब्द द्वारा शब्द की प्रकृति के परिष्कृत होने  
का प्रयत्न किया है। इसकी शब्द में भी शब्द शब्द पर मिल  
निर प्रकाश के रूप में भाषा की पूजा की है और अपनी शैली  
मात्री मरम् भाषा में भांगि भांगि के सुन्दरता कथनों और  
हिलोहो की शब्दा दिशा है। पुनः का मुख्य उद्देश्य  
भाषाई उद्देश्य, मरम्, मिश्रण और मरम् की शैली है।  
परम्भा और प्रकृति, शब्दों और शब्दा सुन्दरों और  
शब्दों का हृदय, भाषाई मरम् और भाषाई मरम् यह इसके  
नूत विन्द है। हम गीताई का है परन्तु हम शब्दाई वाष्  
हो का नहीं है। जो लोग इसको ध्यान पूर्वक पढ़ेंगे उन्हीं का  
इसके ध्यानपूर्वक रूप और रंग का पता चलेंगा।

यद्यपि इनके छोटे छोटे शब्द निरर्थक नहीं हैं परन्तु ये उस  
एक की ओर प्रयत्न शक्ति से ध्यान खींचते हैं। अनुभवी लोग  
ज्ञान ज्ञान को देखकर यह भी कह सकते हैं कि इस लेखनी  
की शब्द जिस रूप को पकड़ रहा है तर्कहीन के दूसरे  
उद्देश्यों में शब्द की गरिमा और सुखमा की ओर ध्यान  
कीजना भी है और भाषाई चल कर मरम् जी के नगर में  
निरर्थक को फिर से नया करना भी है निरर्थक की उन्नति  
में साहित्य की बहुत उन्नति हो सकती है। आशा है कि यह  
हिन्दी-भाषा-संसार में और साहित्य सेवा समाज में अपना  
जीवन ज्ञान पावेंगे।

अनुभव और आनन्द यही ही साहित्य के हस्तक्षेप हैं।  
इन्हीं शब्दों के पाठों के बीच में आकर बाँध बनो रोता और

कमी हँसता है, शारदा के भक्त की झटल और झकड़ परीक होती है। इन्हींसे भाषा में बल आता है, भाषों में परब्रह्म आता है, लेखनी से रस टपकता है, स्याही घटकीली हो जाती है। समालोचना का सीधा सादा यही एक निष्पत्ति है। 'तरंगिणी' के तीर पर यदि किररी को कुछ ताज़ी, दिया लगे, दिल ठंडा हो, मुँह धिल उट्टे, पते की बात मिले, तो लेखक का धम बहुत बढ़ सकता हुआ समझना चाहिये। यदि यह सलिल दिमाग के आकाश-स्पर्शी दिव्य शिखरों से संसार को पुनीत करता हुए न टपका हो, तो न सही, कुछ हानि नहीं, परन्तु यदि वह संसार के झकोरों से सुराये हुये, पाप ताप के प्रथंड मठों में बौकाये हुए बटोदियों के हृदयों को कुछ भी हिला हुए सके, तो 'तरंगिणी' अपने आप को कृतकृत्य मानेगी, इसमें क्या संदेह है ?

शिवाचार पाण्डेय एम० ए०



मातः श्री,

आपने इस जगत-घाटिका की किस निष्पन्न-निहुल्ल में मेरी ज्योति-ज्योति सस्नेह की है ? मात नहीं आपने किस कुटीर में मेरा भविष्य संहित कर दिया है ?

हुद्य समय पूर्व तक मैं उसी निर्जन एवं नीरव-निर्गोप में निद्रित था। सहसा कहीं से पूर्व-भय का परिचय-प्रचारक-मूर्च्छना से विकल्पित घेद्य-रव उठा, जिसके स्वर-सामडस्य में एक झञ्झौकिक दिव्य-शक्ति के दर्शन हुये ! यह शक्ति निःस-स्नेह हे मातः, आपकी ही प्रति-भूर्ति थी।

उस समय से मेरा काया-कल्प सा हो गया। उसी परमा-राध देवी का प्रतिरूप सरावर में प्रतिषिन्वित समझ कर मेरे एवं-भ्रातृ प्रपन्नता-पूर्णे-प्रसन्नता में परिणत हो गये। क्या इसी प्रसाद को ज्योति-जीवन कहते हैं ?

आपका सरस-स्नेह तथा सरल स्वभाव मेरे हर्ष-हान-हृदय के जिस कठोर-कोण में विराजित हुआ, वहां ने झञ्झ-नीर-आल्हाद के सुभग-स्रोत बहने लगे। आपके सत्य-दान से पुष्टि और तुष्टि की खरम सीमा का पूर्णानुभव हो गया। हर कमल की छाया से नाया-भय आवरण हटाकर आज नितान्त-निर्मयता-निरत-निद्रा में जीवन-प्राणति ज्योतिर्मयी कर रहा हूँ।

हे परम-गुरुये ! जब २ मैं आपका घबल प्यान इस दुर्लभ  
 एवं दुर्लभ हृदय में करता हूँ, तब मेरी व्यक्तित्व न जाने किस  
 प्रदेश को प्रयाण कर जाती है और यह आज्ञा-मित्र आपका  
 किन्तु सहज-सम्बन्ध-गुरु में आवृत्त हो मुक्ति मार्ग में आ  
 रहता है ?

मैं नहीं कह सकता कि मेरा भ्रम कहाँ तक सत्य है, क्योंकि  
 कभी २ जब आपके चरणारविन्दों को घबल घाना और  
 कँटीली केतकी सौहार्द रूप में कपटाट्टादिन कर लेती है,  
 तब मेरा धित-श्वश्रीक उत्कण्ठित हो धिम्ता गय तथा विभ-  
 विभय की तीक्ष्णता के कारण उनका मधुपान नहीं कर पाता,  
 किन्तु हे भक्त परमल ! मैंने सुना है कि हीन-मधुकर का  
 पितामातुल हृदय आपको किमी न किमी प्रकार स्नेह मित्र  
 करना ही पड़ता है । इसी भाशा से कमल-रत्न-कल का लय  
 इस छमर-वंश में महा-पाप एवं गर्हणीय समझा गया है ।  
 अरे, क्या २ कह डाला, किन्तु कुछ धिम्ता नहीं, बालों की  
 ऐसी ही प्रकृति होती है । मेरा स्वभाव तो भूलने का ही है ।  
 आप उपदेश दीजिये, क्योंकि आप गुरु हैं ।

हाँ, गुरु-भाव आपके चरणों में न मान कर किन्तु गुरु  
 में आगिन किया जाये ? आपके कृपा कल्प-तक में सुख वैराग्य  
 विवेक, भक्ति तथा शांति के मधु-मय कल आगिन हुए ही  
 जानन-वृत्ति-कारिण के ; कल कण्ठोपम धरण-गुणद एवं  
 प्रतेद-मोदकेव मुग्ध-मधुर सुख स्वप्न विर-मन्दन कर्षण  
 चन्द्रिका में दृष्टि गल हुए ।

अन्ध ! वात्सल्य-विनाद में विविध विद्याय आपने अनेक  
 ज्ञान में ही निन्दक-रूप में पाया । सरलता मञ्जरी-ली-मर्द  
 का ज्ञान-विन्दु मेरी प्रकृति में पड़ कर उसे गुरु  
 मित्र-मर्द-मर्द-मर्द करने लगा । वन, मेरी गुरु का

का दूर-पतन हो गया और तब से यह नञ्जुत-मानस-  
नराल आपके पद्-पद्मपञ्जर में लाघित रूप से निवास कर  
रहा है।

हे अन्व, क्या प्रकृत-सुखाञ्जलि आपके चरणों पर चढ़ाने  
के विचार से ये हाथ क्लृप्त हो गये, जो उन्हें पुनीत-पूजा  
का अधिकार न मिल सका ? ठीक है, यास्क के विचार चाहे  
विश्वान्वित भी हों तथापि वे दग्ध के अज्ञान-भय हृदय  
के ही कदापि ! फिर अविश्वास और कपट को स्थान ही  
कहाँ ?

ओ हा, इस कोमल-कमल-कलिका-कलित हृदासन पर  
आपके चरण-सुगम की शर्मा करता हुआ इस अज्ञान-जीवन  
को सतत-सेवा का अधिकारी बनाउंगा।

हे अनन्ति, अपने विर-चरण-अनुचर अधम यास्क की  
मुग्ध सेवा शर्माकार कीजिये।

"एतत्परिहारी तदीय-हंसावर्ती की विहार स्वी हो" इस  
परी आशीर्वाद कीजिये।

नातः सन्ध्याम् ! सन्ध्याम् !!

आपका स्नेह-भाजन

चरण-सेवा

परी. पारसी

परी



## ३—जीवन-साफल्य एवं कर्तव्य परायणत

गुरु और बेला ...  
 मैं कौन हूँ ?  
 गुरु बिल जाने दो ?  
 सागर मर  
 विरक्त और गुरु  
 हाट की बाट  
 कर्मों का निरङ्कार  
 रंज, हट मन कर  
 निदान देने योग्य पुत्रादी  
 बन्धु बनाए कर गौंर दे  
 गुरु कानी की राम कहानी  
 सब पदुचना ही आदिय ! ..  
 सब, सब दूगा

## ४—यान्त्रिक-कालि ।

बाप गीर्वाण  
 बाबू की डिग्री  
 मन्त्रा पर कृष्ण  
 कर्तव्य-बाबू ..

## ५—मित्र-विनोद ।

कर्मयोग  
 क्या वे दिन बाद हैं ?  
 कर्मयोग  
 जेब, बैज या कर्मयोग कृष्ण  
 कर्मयोग कर्मयोग  
 कर्म, कर्म विनोद ?

## ६—स्वदेश और समाज ।

|                                   |     |     |     |
|-----------------------------------|-----|-----|-----|
| मेरा जन्म उस देश में हो !         | ... | ... | १०१ |
| शोक-मुधार में शान्त-मुधार         | ... | ... | १०२ |
| मुक्त वीर                         | ... | ... | १०४ |
| क्या मुझे इसी सिधे धिक्कारते हो ? | ... | ... | १०५ |
| मुत्तमाया हुआ फूल                 | ... | ... | १०७ |
| नांद बे भोंके                     | ... | ... | १०८ |
| धिक्कार                           | ... | ... | ११० |
| स्वदेश-संदेश                      | ... | ... | १११ |

## ७—मानस-मिलन ।

|               |     |     |     |
|---------------|-----|-----|-----|
| जोड़ जल-पोत   | ... | ... | ११४ |
| अन्तिम-प्रणाम | ... | ... | ११५ |
| पुष्पावलि     | ..  | ... | ११७ |



## अभियन्दन ।

हे विश्वेश्वर ! हे कदणाकर ! हे मेरे परमस्थामी !

आज,

मेरी रति और भक्ति-पूर्ण प्रणाम,  
स्वीकार करते ।

मेरे,

अङ्ग प्रत्यङ्ग तेरे अभिमुख अवनत हो रहे हैं ;  
तेरी अलौकिक मूर्ति हृदयमय हो रही है

और,

इस 'तरङ्गिणी' का प्रवाह,  
रवि-तनया यमुना की समान, तेरे  
पवित्र चरणों

के स्पर्श करने के अर्थ क्षण प्रतिक्षण बढ़ रहा है  
हे अच्युत !

मेरा गर्वाश्रय ममलक अतन्त्रकाल पर्यन्त तेरे शरणों  
पर अवनत रहे

और

यद् मन-मराल' सदा ही तेरी  
भक्ति तरङ्गिणी  
के तट पर निवास करता रहूँ'





आ काम देती है और मेरा अधीर हृदय धार २ हृदय पर  
 नो यह गान गाने लगता है कि, 'मैं तेरा श्रुती हूँ !'

जब मैं हरित-धान्य-सम्पन्न मनोहारी खेतों की ओर देखता  
 हूँ, नृग-गामिनी केति-किलोत करती व इठलाती हुई नदी का  
 धन २ ख सुनता हूँ, जब मैं अधखिली कुतुम्बकों के स्निग्ध  
 कोण का परिचुम्बन करना हूँ, जब निःस्वार्थ बालक मेरी  
 गोद में आकर तालियाँ बजाता हुआ तोतरे बचन बोलता है,  
 जब प्रारोधार प्रियनिद्र का करकमल स्पर्श कर इत्थानन्द में  
 निम्न हो जाता हूँ, तब संसार की दृष्टि में धनो धनो की  
 इच्छा रखने वाले भी चिला कर यह उठता है कि, 'मैं तेरा  
 श्रुती हूँ'

मैं मन हो मन परतन्त्रता के कारण सन्नापित होता हूँ,  
 किन्तु इस उन्न-परन्दरा-प्राप्त श्रुत चुकाने की कोई चेष्टा  
 नहीं करता । धनोपार्जन करते २ नारा जीवन व्यतीत  
 हो गया, पर श्रुत न चुकाने ने किंविन्मात्र नहिजद नहीं  
 होना ।

अब मेरे प्रेन ! आज से मेरा यही संकल्प है कि तेरा श्रुत  
 कवर चुका दूंगा, पर तुल्लते उश्रुत न हूँगा ।

क्यों नहीं, 'मैं तेरा श्रुती हूँ, तेरा श्रुती हूँ' यही कहते २  
 उश्रुत हो जाऊंगा !



## क्या तुम वही हो ?

ॐ! जब तू जानने के रम्योद्यान से हंलता हुआ गंदे उद्धतता चपल चाल से चला आ रहा था. उस समय मैं एक दीन बन्धी, तेरी अनादिक्रम लुचि पर मुग्ध हो गया। तब बन्दों को छोड़ कर, सोलुप-ब्रमर की नाई, मैं तेरे मुख कमल के पगल पान करने को परमेन्मुख हो कर दौड़ा, पर छल लड़ने विरह कर. तू मुझ से और और दूर भागने लगा और पर केलि-विनोद दिखाना हुआ तब भर मैं इन दृश्या-दर्शनीयों को छोड़ मैं हो गया !

मे, मशरों ने जातनी और नीच प्रकृतिपाता. तेरा अनु-मरण न कर मशा। एक कर एक. हाथदार मुक्त के नीचे बैठ गया, जिसे लोग 'आकाश-मट' कहते थे। तेरी साधारण-भयी हवा कर भी जानों ने झुलती थीं। मैं ने विचार लिया, कि इस तू जिनोला, तब तेरे हल से भागने का तुम्हें मूढ़ उराहना ऐसा हुआ मजिबत कर के गुना। आंख बहने लगे और विरह-सिद्धि संन दिाधत हो गये। आरे भरता हुआ धरती पर बैठ गया।

घोटे हो कर मे किसी ने दाँटे के मेरे शरीर कथ-हासिक में मीच लिये। जला बदा ही तुझमल और शीतल हवाएँ पारिभ्रम में ने लींर कर उर कर कमलों का समाहर करने हुए भूतना पूर्वक विरह कर बना. बाल है रे !

जब यह भी धरी मेरे उद्धततेपाना दालय है !  
मन में जो धारें कि हो कर हास्य पान लींर हू. पर इन हास्यों धारों ने कम्बे पहिने हू. मेरे विरहोपर हास्योय नेशों ने देन कर लिये। हास्य भव हास्य और हास्य में हास्य मड्डे









हे नगरपालिका ! तुम्हें ऐसी स्मरणात्मक प्रदान कर, जिससे  
 मैं तुम्हें नगर नों न भूलूँ और अपने निष्ठ हो प्रत्येक कार्य  
 में दिन-रात सारा ही न करूँ ।

तुम्हें यह आशीर्वाद चाहिये कि 'मैं भूला हूँ और तू भूला  
 है।' इस नये नियम, पर नो बड़ा कर, जिस को मैं तुम से  
 उम्मीद करता चाहता हूँ, यह है, कि तू तुम्हें अपना निश्चय  
 पर निष्ठ प्रेम ही न करे, वह प्रेम तेरे प्रेम ही से लिये हो !

•••

## क्या मुझे भूल गये ?



मुझे भूल गये गये ? मैं यही हूँ जो अन्त  
 अन्त में अन्त ही निष्ठ र वास्तविकी  
 का निराधार भवत निर्मित कर लड़ा  
 कर देता हूँ। प्रेमियों के आँसुओं की  
 बूँदों में अपने हृदय पर मैं भर कर  
 उसी पवित्र धारा से वास्तव-प्रद को  
 अभिव्यक्त करके उत्तम प्रेमों लता  
 स्थापित कर देता हूँ। इस भवन में उभय

पक्ष का नाग-विष सिंघा रहता है और विश्व व्यापी जीवन  
 का स्वार्थ अनुभव यही पर होता है ।

मैं यहाँ से हनुम में शोभता, नदियों में स्निग्धता,  
 शिखरों में शोभता, वात-हृत्प में मधुरता, मेघ में स्व-  
 लता और प्रकृति में मनोहरता अभिव्यक्त हुई है । राग में  
 स्वर-नामधेय अन्त में विविध स्वर तथा प्रेमियों में  
 गहरा प्रेम ही निष्ठ आधार है । लक्षण-विशेष का अन्ते-  
 कर्म, निष्ठ में अभिव्यक्त, मुक्ति में स्वयं एवं भाग्य का अन्ति-  
 म नरों लक्ष्य प्राप्त होता है ।







कर्मों पर ध्यान न बना ! जो हो मुझे देखा, अपने  
बुरा ही प्रेम-भावा छोड़ कर भागे । मैंने नाला उठा कर  
मूर्खता, कि क्या बिल्ला, अब तो चोर का पता लग ही  
गया ।

हे भारताय, तुम्हारे नट-खट खूब देखे । अब, दल बल न  
पाते हुए इन लालते हुए अधोर नेत्रों को दर्शन देकर शक्ति  
धो । अपने कर्मों में तुम्हारा कुछ भी न करंगा ।

किन्तु हे मनमोहन ! तुम्हारे ही प्रेम-भावा से तुम्हारे  
सिंहों हाँस बाँस कर मुझे इतना सह लेने दो कि,

“क्यों पारो चोर ! अब भाग कर कहीं जाओ ?”



### कुशल चित्रकार ।



सुख चित्रकार ! तेरा चित्रकार बड़ा ही  
सहज है । तूने अपनी भावा का आश्रय  
लेकर निराधार आकाश की भीत  
(शंका) बनायी । शब्द का मोन लगा  
कर मजिदगी कर दिया । तब हाँसकर ही  
जहाँ से अपनी नेहर उभर कर बिच मौजने  
लगा ।

माननीय-पुनः-पुनः अहित हर्ष शिष्टक मनमोहनी  
मूर्खता से मनमोहनी बन्द रहित हर्ष मनमोहनी अनामान  
मनमोहनी आत्मन काहि लग भाग में बना दिने । कि  
मनमोहनी अनामान ही अनामान सेनापति होती । सुख सुख ही  
की निराशी, किन्तु हीना र ताकते ही दूख हीना दमे दमने ।



दने विविध प्रकार के छन्द लिखे, किन्तु उनके श्राघ एवं मनमानुमान 'अनिर्वचनीयता' पर ही पूर्ण हुये । तेरी विशद काव्य में सुन-दुख, जीवन-मरण, ज्ञान-अज्ञान, तथा सन्धत-तुष्टि ही मनोचारीक प्रतेशार पाये जाते हैं । उसके प्रत्येक पद संगीत-संगीत हैं । शब्द-साहित्य तथा रस-भावुर्ष्य रस रस पर मया है और उसकी शैली भी तवीन एवं नाव-पूर्ण है ।

हे मशारवे ! तेरी अतर्क्य काव्य में नायक-उत्पिद अगापिद ही-इच्छा पाये जाते हैं, जिनका अर्थ लगने २ सांसारिक परिशेषों का सर्व-सर्व हो गया । तुने छन्द-प्रमन्य में ऐसी अल्पदतापूर्वक प्रमादरुण का मन-वेग किया है कि गत दिन पढ़ने २ मन के किन्ही प्रकार का शैथिल्य प्राप्त नहीं होता है और अकाल प्रविजान, बढ़ती ही जाती है ।

हे शक्ति-सिरोमणे, उन्म है तेरी मन्थान अतिथि शक्ति ही ! तेरी शक्ति म-पूर्ण अतिथि अर्धनायक का रस शक्ति मूड हीन मन्थान् में अन्धकार की अन्धक होड़ जाती है ।

हे अनादि बन्धे ! उन्म है अन्धक अन्ध में अन्धों २ शक्ति में तेरी मन्थानायक का अन्धकार किया । पर तेरी अन्ध अन्धक अन्धों पर अन्ध अन्ध, उन्म है ही अन्ध मन्ध । अन्ध अन्धों का दिन का गया । किन्तु तेरे अन्ध में अन्धकार ही अन्धकार नहीं, अन्धकि ही अन्धकार का अन्धकार ही अन्धकार ही किया । पर ही अन्धकार ही ही अन्ध अन्धों २ अन्ध में अन्ध अन्धकार ही ही अन्ध अन्धों ही अन्धकार







# क्या अब भी कुछ बाकी है ?



गाय ! कब तक तरमात्रोगे ! प्रार्थना करते करते आँखें मिचने लगी और अंत प्रत्यंग शिथिल पड़ गये ।

इस अनामे पाग की सैर कड़े-कड़े पर चक गये । भौंरा का संजार रुक पा । विकशित और संपुटित दोनों ही प्रकार की पुष्प-कलियाँ झड़-झड़ कर गिरने लगीं ।

कुछ फल तो डालों में लगे ही सूख गये और कुछ गूल हवा नीचे गिर पड़े । गरम हवा के चलने से हरी हरी लताँ मुरझा-कर पीली पड़ गईं । कोयल के मधुर आलाप के बदले उलूक का रोम-हरण शब्द सुनाई पड़ता है । निकरसाह और निरानन्द से हृदय कपिता है । अब, यहाँ पल भर भी ठहरने को जी नहीं चाहता ।

राज दिन दिलने मिलने वाले प्रिय मित्रों ने अक्षरशः ही मुझे हथियारे की नाई इस मूले खंडहर में छोड़ दिया । स्वर्णितों के नीदण वाक्य यागों से शरीर क्षिप्त भिन्न हो गय । पश्याभाष की भीषण मूर्ति गामने लड़ी होकर डरवाने लगी । प्रकृति ने मूलक-सम्कार का काला वस्त्र धारण कर लिया । राय 'मित्र पर दुर्धामनाओं के कल्लों का वज्र-प्रहार ही रहा है !

त प्रभो मग्ण्या के रग किरणें वादल क्षण-संगुता में विलीन हो गये । अब, राज भर के क्रिये वाली घटा पदम होने लगी । अन्त किरणें मुझ वाली का कर्मकी मुल दोल पड़ने के मय से अन्न-पुत्र में क्षिप्त नहीं । इस सर्वकर स्वच्छा के समान मूलगत मैदान में अचेष्टा में ही रह गया ! क्या ही दुःखपूर्ण !

निकुंज शृंगार ।

जिस ओर आँख उठाता हूँ, निराशा का अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देता है। हाँ, केवल तेरे मिलने की उत्कण्ठा का एक ध्रुवतारा ही उत्तर दिशा में जुगजुगा रहा है।

हे प्रेम प्यारे! आज न मेरा कोई, न मैं किसी का। नाते और सम्यन्ध सब हो धूल में मिल गये। सहस्रों यातनायें भोग कर, अब तुम्हारे द्वार पर आ उठा! इस दीन के मिलने में क्यों विलम्ब करते हो? या अब भी कुछ रंग दिखाने को बाकी है?

\*\*\*

## निकुंज-शृंगार ।



ज स्योदय के पहिले ही प्रेम-निवास की केलि-कुञ्ज में बड़ी उत्कण्ठा से पहुँच गया। इस विचार से गया था, कि यहाँ आप के विहार का गिरा हुआ द्वार घ फूलों का गुच्छा मिल जायगा और मैं उसे बड़ी भक्ति-पूर्वक धारण कर लूँगा। मैंने इधर उधर बहुत देख-पर चरणों के आभूषण के एक फूल ढोड़ कर कुछ भी न मिला, क्योंकि प्रेमीजन पुष्प-शृंगार पहुँचने के पहिले ही ले गये थे। अनेक प्रकार के फूल तोड़ मैंने एक माता बनाई और बीच के एक मुमके में उस फूल लटका दिया।

उस फूल माता के धारण करने से मेरी शोभा चौ



## तू मेरा भिखारी है ।



राज राजेश्वर ! तू मेरे द्वार का भिखारू है !  
मैं दिन भर कठिन परिश्रम करते २ एक २  
कौड़ी से खपना भएडार भरुंगा, और  
सन्ध्या समय तेरी भोगली में सब हो  
प्रलभता पूर्वक उड़ेत दूंगा ।

जब तू अपनी एक फिरण के तेज से  
समुद्र को मरुभूमि बना देगा, तथा दिवा-  
कर के प्रचण्ड प्रताप को अचता रात्रि के  
खटाह से पराजित कर के मेरे द्वार पर चेतायनी के वैराग्य  
पूर्ण गान गायेगा, न शीघ्र उठ कर तेरा ध्यातिय्य-सत्कार  
करुंगा । उस समय, जो तू मांगेगा, मैं सहर्ष भेंट कर दूंगा ।

हे विश्वम्भर जिन नयन की लज्जवट करने में सांसा-  
रिक्-जन सदैव दन्तचित्त रहते हैं जिसमें कामना के उद्य  
न्यन्न बनाना हा परम कर्तव्य समझते हैं और जिसकी  
सुर-भगुन शंखाल पर विविध प्रकार के चित्र लिरा करते हैं,  
उस स्वर्गीय गृह को मैं पल भर में तेरे लिये एक टूटी फूटी  
भोगड़ी की नाइ खाला कर दूंगा

हे जगन्नाथक जब तू बाल रवि रश्मियो का रगा हुआ  
कनाय बख धारण वि य कृपा कटाक्ष का दण्ड लिय प्रकृति  
पात्र में निज्ञा लने को आवेगा तब मैं तेरे चरण-कमल अधु-  
जल से धोकर हृदय पद्मानन पर तेरा अप्रतिम यात-मूर्ति  
विराजित करुगा । हे विगतकल्मष ! मैं बडे ही प्रेम से तेरा  
पात्र खपनी आत्मा से भर दूगा ।









मैं मोहान्वय रूप में गिर कर चाये और चिहाना हूं, लोग हंसते हैं और तालियां बजाते हैं ! परन्तु हे प्रभो ! उस समय एक नू हो मेरा हाथ पकड़ कर बाहर निकालता है । मैं तेरी रूप को नम्र कर फिर प्रमत्त हो जाता हूं और तेरे साथ रहने में परम सुख मानता हूं । तो, मैं किम प्रकार तेरा नात बनने से योग्य हूं ?

हे जगन्नाथ ! मैं तेरा सेवक भी नहीं बन सकता, क्योंकि नून महानिम्नता का मस्तक तेरे चरणों पर बसने नहीं सकता और यह अनिन्द्य शरीर तेरी सेवा न करने में ही सुख मान रहा है ।

हे विष्णु ! नू तेरे साथ चाहे जो सम्बन्ध माने, पर मैं तेरे साथ कोई नाता नहीं मान सकता । हाँ, मुझे इतना करने में ही मर्ग है, कि नू मेरा 'सर्वस्व' है और मैं तेरा कोई हूँ ।

हे विष्णु ! मेरा तेरे साथ सगे में सगा नाता पर्यो हो सकता है कि "नू प्रेम है ! एक मात्र प्रेम है !! मेरा प्राण-धर वेदम प्रेम है" !!!



जिनके पर निर्भर नहीं है। यह सारी प्रकृति ही तेरे  
 स्वयं के प्रतीक है। तेरी शिक्षा सैली मनोहारियों एवं  
 समकाली है। तू ने प्रत्येक विषय का साक्षात्कार ही नहीं  
 बल्कि बहुत उत्तम उत्कृष्टन करके उसमें अपनी प्रेम-शक्ति  
 का संगम कर दिया है।

ये सब किछु उपदेश यहाँ हैं कि तूने निम्नता में समि-  
 त्त-प्रवृत्ति में पूर्णतया तथा जीवन-भर में मुक्ति प्रचारित  
 की है।



## कृपा-कथा ।

ममो ! यह तेरी हवा ही नो है, जो नित्य समस्त  
 प्रकार के द्विज निम्न करता हुआ प्रमात का  
 प्रकाश मेरे अधतन गृह को आलोक पूर्ण कर  
 रहा है और शतक-समय के भोके तंत्र धूप से पलीना रहने  
 निर्माण में पला हुआ कर जाने जाते हैं।

जब यह भक्ति गायत्री नहीं देखकर विषय-प्रवृत्ति नेत्र  
 में पड़ जाते हैं वह सब धूप में धके लिये जंग मैदान की  
 निर्मिता न सतत में विचार हो जाते हैं जब स्वतंत्रता-प्रिय  
 विचार का अनुभव सुनकर मर्त्यात् का उच्च भाव प्रकट  
 हो कर शून्य तब तब न मनी-कुछ में बैठ कर शब्द-यामिनी  
 के प्रथम उच्च विचार जहाँ है सब कुछ तेरी हवा का पूर्ण  
 अनुभव ही जग है

हे स्वामी जहाँ न में निर्माण हो जाता, यहाँ में मुक्ति  
 का प्रतीक उद्धार में अथवा तब विषय-हुरार में वैराग्य

















आत्म-विरहनि को भी समी आत्म-वापसि कहता हं. क्योंकि  
वो तो मेरे में नतबाला हो गया है वही साधधान और सचेत  
है. अब तांमारीक प्रबुद्ध मन बर्न घणुओं से हरेते हुए भी  
मनोबल में न रहे हैं ।

• • •

### वामना-जय ।

श्रीगुरुदेव नमः शिरोभ्यः । उर उर मेरी आत्मा तेरी  
अर्पित कर लोके प्रकृत को शरीर और व्याकुल  
तुं नमः करनो है. अब न मानुष शीत का करास  
कामप्रदान मेरे उकलता करी स्वतन्त्र ज्योति  
सो निर्मात कर तुम है दीन करतार अंगरु वृत्त तुम अयमांत  
कर ही पंहे हय तुम है

तुम्हारा है कि तुमने प्रकृत को दे दिया है जो तुम तुम्हारे  
निर्माण में विद्युत् नेर न तुमने प्रकृत को दे दिया है कि तुमने  
मेरे वर्तमान शरीर को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
आत्मा पर पाने का है. अब तुमने प्रकृत को दे दिया है जो  
अवद्वैत कर तुमने प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
नित्य-सुख के कर तुमने प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
अद्वैत के कर तुमने प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
मनो मान बना है

मैं तत्पार-संग क तुमने प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
वामना-शरीर बना है जो प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
नित्य करने को दे दिया है जो प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
हैं, किन्तु विद्युत् तुमने प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के  
है और मैं प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत को दे दिया है जो प्रकृत कर के



































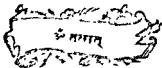
# साहित्योद्यम की विकास-विज्ञप्ति ।

संस्कृत भाषा का सच्चा जीवन उसका साहित्य ही है।  
संस्कृत भाषा को वास्तव में प्रकाशित करने वाली अपनी  
संस्कृत ही बनी जा सकती है। मातृ-भाषा में सर्वोच्च-  
तम को ज्ञान देना ही सच्चे साहित्य का उद्देश्य है। ऐसे  
उद्देश्य से ही देश के कल्याण की आशा की जा सकती है।  
जिसका ही जोर ध्यान देकर हमने फेपत साहित्य-संघा के  
जिसे 'साहित्योद्यम-ग्रन्थ-माला' प्रकाशित करना प्रारम्भ  
किया है, जिसका पहला पुस्तक ज्ञान भद्रानुभाषों के कर-पत्रही  
है। इसे पढ़ कर यदि आप लोग साहित्य-दर्शन के  
साथ साध्यात्म्य-ज्ञान में कुछ भी शान्ति-लाभ  
करें, तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे। हम  
अगले वर्षक इसके बाद दो और ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित करेंगे,  
जिनका नाम 'शान्ति-सोपान' और 'धर्मराय' है।

शान्ति-सोपान—लेखक प० हरिप्रसाद द्विवेदी। इसमें  
विचार, भौतिक और आध्यात्मिक पक्ष पर 'परम धर्म, साधना,  
संयोग, भक्ति और शान्ति पर कुछ ही उत्तम निबन्ध लिखे  
हैं। तन्त्र-विशेषण अनुभव' मय शान्ति तथा सच्चा  
विचार इसमें बड़ी ही सुन्दर ढंग से किये गये हैं। इनमें  
दो विषयों को भी 'हरि' और 'द्विवेदी' द्वारा प्रकाशित और  
उनके द्वारा प्रकाशित किया गया है। इन दोनों पत्रों पर  
विचार-संघ-कारियों के नामों का प्रकाशन किया है। स.स.स.  
'दुर्गा' 'विचार' इत्यादि नामों के अन्तर्गत १९१८ के अन्त में  
प्रकाशित की जा सकती है। स.स.स. १९१९ के अन्त में

टोकनी के मुट्ठी भर फूल उन पद्-पत्रों पर स्नेह-पूर्यक गलत्रानु  
 पर्व अवनत-शिर होकर चढ़ा हुआ ।

हे देवाधिदेव ! हम प्रेमोत्सव 'हरि' की पुष्पाञ्जलि स्वी-  
 कार कर ले, जिसमें कि इसका पवित्रम सफल हो, और तूरे  
 परतों में रति और प्रेम उत्पन्न हो ।



# साहित्योदय की विकास-विज्ञप्ति ।

ग्रन्थ-व्यक्ति का तथा जीवन उत्तर साहित्य ही है।  
सिद्धि-मार्गों को वास्तव में प्रकाशित करने वाली अपनी  
मद-नाम ही रही जा सकती है। नाट्य-भाषा में सर्वोच्च-  
मार्गों को स्थापित करना ही सच्चे साहित्य का उद्देश्य है। ऐसे  
संशय से ही देश के कल्याण की रक्षा की जा सकती है।  
सिद्धि-मार्गों को धीरे ध्यान देकर हमने केवल साहित्य-सेवा के  
विचार से 'साहित्योदय-ग्रन्थ-माला' प्रकाशित करना प्रारम्भ  
किया है, जिसका पहला पुष्प प्रायः महापुरुषों के कर-कर्मों  
में है। इसे पढ़ कर यदि प्रायः लोग साहित्य-दर्शन के  
साथ ही साथ आध्यात्मिक-उन्नति में कुछ भी शक्ति-सामान  
प्राप्त करें, तो हम अपने परिश्रम को सफल समझेंगे। इन  
ग्रन्थों के पूर्वक इसके बाद दो और ग्रन्थ-रत्न प्रकाशित करेंगे,  
जिनके नाम 'शक्ति-सोपान' और 'धर्मराज' हैं।

शक्ति-सोपान—लेखक १० हरिप्रसाद द्विवेदी। इसमें  
विचार, भौतिक और आध्यात्मिक विकास, वर्तमान धर्म, साधना,  
संन्यास, भक्ति और शक्ति का उद्देश्य है। इसमें विद्वान् विद्वान्  
के हैं। तन्त्र-विद्या-सम्बन्धी अनेक अज्ञान्य तथा सच्चा  
संन्यास इसमें बतलाया है। अनेक अज्ञान्य विद्वान् हैं। इसमें  
गुरु-विद्वान् को भी बतलाया है। अनेक अज्ञान्य और  
संन्यास-सौख्य के अनेक अज्ञान्य हैं। अनेक अज्ञान्य  
परिचायक तन्त्र-विद्वान् के अनेक अज्ञान्य हैं। अनेक  
एक पुस्तक 'विचार दर्शन' और 'तन्त्र' का अर्थ है  
रक्षणी जा सकती है। अनेक अज्ञान्य साहित्य पुस्तक









# प्राकृत्यन

“प्रेम शंख को फूँक कर, तनहुँ मोह भय भ्रान्ति ।  
रना-दया-रन्तोष-मय, देलाची शुभ शान्ति ॥”

प्रेमी पाठकगण :

मैं अपनी ‘प्रेमोपहारमाला’ का एक नव-विकसित कुसुम आप लोगों की सेवा में भेज रहा हूँ ।

शान्तिरस के सुन्दर सौरभ का सञ्चार करने वाले बहुत से सुनन हिन्दी-साहित्याद्यान में मिले हुए हैं । उनकी सुगन्ध दूर दूर देशों तक फैली हुई है । और, उनके पुण्यदर्शनों ने बहुत से भारतवासियों का जीवन पवित्र किया है । किन्तु, आजकल की युक्ति-प्रिय समाज की उन पुण्यों की ओर, रुचि नहीं । जूँची से जूँची बात को बीसवीं शताब्दी के लोग अपनी कुशाग्र-बुद्धि की तीक्ष्ण तलवार से काट छाट कर धूल में मिला देते हैं ।

आचार-शास्त्र सम्यग्धी सिद्धान्तों में किसी को तर्क करने को अधिक जगह नहीं तथापि, यदि कोई उनको वैज्ञानिक आधार पर रखा दे तो वह सशय की दोष-पूर्ण वायु से सुरक्षित हो जायेंगे । इस ग्रंथ के लेखक हमारे परम मित्र गुलाबराय जी ने कर्त्तव्य-शास्त्र-सम्यग्धी अटल सिद्धान्तों को वैज्ञानिक तन्तुओं में जकड़ कर और भी सुदृढ़ बनाने का यत्न किया है । इस पुस्तक में न किसी नवीन मत का उपदेश दिया गया है और न इसके प्रथकार अपनी पुस्तक की पूर्णता का दावा करते हैं । इस पुस्तक में प्राचीन परम्परा से प्राप्त उपदेशों को, वैज्ञानिक व्यवस्था से, दुहराने की चेष्टा की गई है ।











# द्वितीय संस्करण

की

## भूमिका

ग्रन्थ लेखनाद्योग में शान्ति-धर्म मेरा खूब से पढ़ा हुआ है। इसके पहले संस्करण निकाले हुए दो वर्ष बीत गये। इसी बीच में, कुछ विशेष शान्ति-धर्म का कारण यन्त्रण सम्बन्धी दो चार ग्रन्थ मेरे पढ़ने में आये। सम्भव था कि उन पाठन ग्रन्थों के आधार पर इस पुस्तक का आकर बदला दिया जाता। किन्तु मैं यह उचित न समझता हूँ कि नये ग्रन्थों के पढ़ने से मेरे मानसिक स्थिति में कुछ विशेष परिवर्तन नहीं हो सका। दूसरे एक बड़ा कारण जो मैंने यह यह कि मैं अपनी पहली पुस्तक का दो-तीस साल के बाद भी पसन्द करता हूँ। नवीन पाठकों का मन जो कि उन पर मैं अब अपने प्रथम उद्योग के समान ही पसन्द करता हूँ। नये शान्ति-धर्म नहीं उठा सकता। इस पुस्तक के दो-तीस साल के बाद भी मैंने आश्चर्यचकित यह शनिवार सन्धि धर्म का ही मैंने अपने पास रखा है। इसमें मैंने अपने शान्ति-धर्म का खूब से पढ़ा है। इसमें मैंने अपने शान्ति-धर्म का खूब से पढ़ा है।









उत्तमो ज्ञातुर्न कोऽपि महाराज. अपनी खरटापार बगधो में,  
 ह्वाखाने जा रहे होंगे। कहीं मित्रों के आगमन से संयोग-सुख  
 हो रहा होगा और कहीं विद्वान् का दाहण दुःखः कहीं अभीष्ट-  
 प्राप्ति से करण किन्हीं मनुष्य का हृदय. हर्ष के नारे फूला नहीं  
 समाता होगा और कहीं कोई विचारा जलफल-भनोरथ मनुष्य,  
 तिर नाँवे किये हुए, ईश की निर्दयता के ऊपर, विचार कर  
 रहा होगा। इन किये वैचित्र्यों को कुल भी हृद नहीं।

यदि हम पशु—मनुष्य की ओर दृष्टि डालें तो वहाँ भी वही  
 विचित्रता दिखाने पड़ेगी. कहीं शेर मृगों के हृदय में भय  
 उत्पन्न कर रहा होगा। कहीं गायों अपनी सूँड़ में घेत भर  
 कर, बाँधों को न जाने कौन कौन कर रहा होगा. कहीं पक्षीगण,  
 अपने बड़े बड़े से अपने बड़े बड़े मनुष्य कर रहे होंगे। कहीं  
 औरतें इन दुःख से बड़े दुःख से बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े  
 में जाना पड़ेगी. का दुःख का दुःख कर रहा होगा. कहीं बीड़ी,  
 एक छुट्टे में एक बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े  
 में खोंबे जा रहे बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े बड़े  
 अपनी स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं  
 मनुष्य का स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं  
 स्वयं-स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं  
 होगा. कहीं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं  
 स्वयं पर स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं  
 ही हृदय का स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं  
 जल में ले जा स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं  
 होगी। इनकी प्रकृतियों का स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं स्वयं



चेतन-वृष्टि भर दी क्रियाओं का साधार है। संसार में इस से बढ़ कर और कोई आत्मरक्षा नहीं है।

यहाँ इन नियम का पालन जान कर होता है और कहीं बिना जाने ग्याभाविय, रीति से। किन्तु, ऐसा कोई जीव नहीं है, जिस को क्रियाओं का उत्तम साधार, आत्म-रक्षा न हो। संसार में इतने उद्योगों के नियम होंगे तो सही, किन्तु—उनकी स्थिति आत्म रक्षा को पराधर नहीं हो सकती। उच्च कोटि के नियमों का पालन उद्योग जीव ही कर सकते हैं किन्तु, आत्म-रक्षा का नियम ऐसा है जिस का पालन, सूक्ष्मादिपि सूक्ष्म कीड़ों से लेकर मनुष्य पर्यन्त सब को करना पड़ता है। पराधीन रूप में जो सब सब कार्य, सभी अपनी स्थिति चाहते हैं। तब तब जोड़ अपनी प्राकृतिक प्रेरणा से आत्म-रक्षा के निमित्त अपने भाग की योजनाएँ करते हैं। अनेक कोटि पतन पतन को रोकना नहीं कर लेते हैं जिससे कि उनके अर्थ, उनके जीवन, उनके सम्पत्ति का खोड़ दें। जब कोई रोगाणु, बैक्टीरिया, वायरस, अणु में प्रवेश करना चाहता है, तो हमारा रोग प्रतिरक्षा व्यवस्था समझ कर उसे रोकना करने की प्रयत्न करती है। प्रकृतिक प्रेरणा नहीं प्रायः सभी जीव-धारियों को उनके जीवन, जीवनवृष्टि के अनुसार आत्म-रक्षा के साधन उपलब्ध है। उन जीवों के उन्नत नर, शूद्र आदि कोई रक्षा के साधन नहीं उपलब्ध है। प्रकृति ने कुछ न कुछ सब को रक्षा के साधन उपलब्ध है। मनुष्य प्राकृतिक शक्तों से बहिष्कृत है। प्रकृति ने उसे कुछ नहीं दे। अनेक द्वारा वह अपनी आत्म-रक्षा के साधन उपलब्ध कर सकता है।



वह आजाती है तब उस का स्वागत करना कठिन होता है। दूरस्थ पर्वतों की भाँति, मृत्यु की घाटा दूर ही से प्रिय मालूम होती है। किन्तु, निकट आने पर, वह भयंकर हो जाती है। मरते समय, यदि किसी से पूछा जाय कि, तुम और दो चार दिन जीवित रहना पसन्द करोगे : तो ऐसा कोई घिरला ही होगा जो इस प्रश्न के उत्तर में—'ना'— कह सके।

आदर्शों, केवल दो हालतों में मरना पसन्द करता है। या तो, जब वह यह देखता है कि संसार में उसको मुँह दिखलाने की जगह नहीं, अथवा जब कि धर्म और देश का हित, उसके प्राणों की आहुति दिये बिना, सधता नहीं मालूम देता। इन दोनों अवस्थाओं में से, कोई भी साधारण नहीं है। प्रथम दृष्टा में तो, मनुष्य अपने का संसार कालिये, मरा हुआ समझता है। संसार उसके रहने के योग्य नहीं होता एक तरह से, उसकी मृत्यु ही हो जाती है। वह सोचना है कि मेरी कीर्ति रूपाँ अमली आत्मा तो उठ ही गई फिर इस भौतिक जगत् का धारण करने ही से क्या इसकी स्थिति में कुछ ना अथ निति नहीं होने की। दूसरी स्थिति में वह यह समझता है कि, उसकी मर्णा स्थिति, उसके धर्म और देश का स्थिति में यह संभव है। वह अपनी आत्मा का अपने देश और धर्म से पर्याप्त कर लेता है। उसके विचार में एसा शान्त है कि मेरे मर जाने से मेरी मृत्यु आत्मा जीवित रह सके व भय भयना ही ध्रुव है। दोनों ही दृष्टाओं में मनुष्य अपने मर्णा स्थिति का चाहता हुआ, आत्म रहने के लिए अपने मर्णा स्थिति का पराजय देता है। ऐसी अवस्था में ही मनुष्य अपने मर्णा स्थिति का पराजय देता है कि इस प्राणिक मर्णा स्थिति में मनुष्य का पराजय देता है।





## SHANTI-DHARMA.

जब मैं निकल पड़ता हूँ। घन्नांगना लोग आत्म-रक्षा ही के लिये, धार्मिक कर्मों में अपनी दृढ़-प्रवृत्ति करते हैं। किन्तु, समाज में और का काम करनेवाले चरित्रवादी लोग हैं, और, घन्नांगना लोगों के काम ही प्रवृत्ति की जाती है। इसका कारण यह है कि, दोनों के आत्म-रक्षा के विचार में, अन्तर है। और आत्म-रक्षा ही अखिल सोना का उद्धार कर जाता है, और उसके आत्म विनयक विचार भी जैसे तथा फल नहीं होने किन्तु घन्नांगना लोग अपनी आत्म-रक्षा करते हुए, दूसरों की आत्मरक्षा में नरायण होते हैं।

जिन प्रकार लोगों के आत्म-सम्बन्धी विचार अलग-अलग हैं, वही प्रकार आत्म-रक्षा के साधनों में भी भेद है। जो लोग, अपनी आत्म-रक्षा के उपायों की योजना में, संकुचित नहीं करते; वे अपनी आत्म-रक्षा के निमित्त, ऐसे-ऐसे साधन चुनते हैं, जिनमें किसी व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे; और जो लोग समाज-सम्बन्धी कामों का अग्रतन्त्र करते हैं; वे अपने देश के साधनों की ही हानि मुख्य समझते हैं। अतएव वे भी आत्म-रक्षा के उपायों में नहीं होते। जिस प्रकार दूसरे लोगों के काम-रक्षा करनी है वही प्रकार से सिद्ध नहीं करना अन्य मनुष्य का काम करना करना है।

इसका मूल का अर्थ यह ही है आत्मरक्षा तब ही कहते हैं जबकि अपने-अपने प्रवृत्ति और योग्यता के अनुसार, हम अपने मनुष्य के भी अपने-अपने धर्म साधनों को, काम में लाते हैं। यदि हम समाज-सम्बन्धी काम करनी रक्षा करते हैं, और यदि समाज-सम्बन्धी काम साधनों के भेद से आत्मरक्षा में भी हमें भेद है, तब एक साधन कुछ दूसरी साम्यनदी। अपनी धर्म का अपना साधन-व्यवस्था बड़े-बड़े।

# संघर्षण-युक्त आत्मरक्षा

साङ्ख्येन चानन वेदा प्रनिगतो विवर्तनम् ।  
 दंति दघ्नं मारा व नततो पुहुं प्रवर्तते ॥  
 तत्र यो वनवाभु कृच्छ्रं क्लृप्ता भेऽस्ति तदा मिषम् ।  
 एवमेव मनुष्येषु विरोधो नास्ति करचन ॥

महाभारते

रणरक्षाभिषिक्तानां भक्ताद्यैः समुद्यमः ॥

—‘संमेन्द्र’

**आ**त्मरक्षा—प्रकृति का पहला नियम है । किन्तु,

इस नियम के पालन होने में बहुत सा संघर्षण एवं क्षय भी होता है । प्रायः सभी जीव-धारियों के जीवन की स्थिति के लिये संघर्षण करना पड़ता है । विशेष कर वनस्पति और पशु-सत्तार में, संघर्षण ही द्वारा आत्मरक्षा होती है । मनुष्यों का जीवन भी लड़ाई और भगड़ों से खाली नहीं है । बड़े बड़े पौधों की प्राण-पुष्टि के लिये छोटे-छोटे उखाड़ डाले जाते हैं । बिना छोटे जीवों के नाश हुए, हिंसक पशुओं का जीवित रहना भी, नितान्त असम्भव हो जावेगा । यदि सिंह की दृष्टि से देखा जावे तो मनुष्य और पशु समुदाय इसकी उदर-पूर्ति ही के अर्थ रचे गये हैं । जय की मानव जातियों में भगड़ा खड़ा होता है, तब एक जाति दूसरी जाति की सत्ता को बिल्कुल मिटा देना ही अपना परम धर्म समझती है । कुछ लोगों का

एक विधांत या कि मनुष्यों की संख्या, साधु पदार्थों की प्रशंसा, अधिक बढ़ती है। इस कारण, मनुष्य-जाति में भी संवर्धन और नाश परमावरणक है। भाग्यवश, नव-जात विद्वान् ने इस कृत्य को निर्मूलत साधित कर दिया है। तथापि, पशुओं की तरह मनुष्यों में, ज्ञान के लड़ाई-झगड़े, बते ही जाते हैं। इस संसार में केवल साधु पदार्थ ही तो झगड़े की बुनियाद नहीं दुर्बल का कहीं कुछ विद्यमान नहीं। न तो दुर्बल एव ही संसार में अहित रहने के योग्य समझे जाते हैं, और न निर्मूलत जातियों ही, दलगत जातियों के सामने, ठहर सकती हैं। जिन पशुओं का नाश हो जाता है, उनके लिये तो दल पशु कहते हैं कि वे संसार में अहित रहने के योग्य न थे। वे कहते हैं कि इन संसार के अनुकूल न बना लगे इतलिये उनको यह संसार छोड़ना पड़ा कवि, वृन्द कहते हैं कि—

—ये मनुष्यक लक्षण ही केवल न विद्यमान नमान।

ननु कालमय एतत्तु ही अस्ति हेतु दुर्बलम् ॥

समस्त जातियों में से मनुष्य के मानस शक्ति की दृष्टिसे, सबसे बड़ी है। अन्य पशुओं का ज्ञान कल की सम्बन्ध से कुछ भी नहीं बने। कुछ मनुष्य माने नहीं जाते सही, परन्तु यह ज्ञान हीन व मनुष्य के सहज बुद्धि में आधुनि तो बन ही जाते हैं। मानस कर्तव्य में से अनेकानेक और अनेक-अनेक-वृद्धि की मनुष्य जन्म ही से अनेकानेक मनुष्य ही के जन्म से प्रेरित हो, एक लक्षण के मनुष्य जन्म ही से अनेकानेक के विविध प्रकृत्य की हातियों पशुजन्म का समान सम मनुष्य ही एक जाति के मान्य ही, इतने मनुष्य ही मान्य ही मनुष्य ही के कभी अज्ञ नहीं होता। एक ही ही मान्य का उद्देश्य ही नहीं देख सकता। पर



आत्मरक्षा का एक साधन मात्र है। यह साधन जानवरों के लिये आवश्यक है, क्योंकि वे विचार-शून्य हैं। न तो उन की आत्मरक्षा ही उन के सिद्ध विचारों का फल है और न हत्या ही के लिये उनके पास कोई प्रमाण है। वे सब कार्य अपने स्वभाव से ही करते हैं। वे अपने साधनों में परिवर्तन नहीं कर सकते। इसी लिये वे दोष के भागी नहीं हैं।

हम लोग विचारवान् हैं। हम प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं। किन्तु, हम पशुओं की भाँति उन से अनभिद्य नहीं। हम अपने जीवन के नियमों को जानते हैं। हमारे ज्ञान ही के कारण, हमारा उत्तरदायित्व बड़ा हुआ है। संघर्षण के अतिरिक्त, उन्नति के और और साधन वर्तमान होते हुए, हम यदि उन को काम में न लायें, तो हम अक्षयमेव दोषी ठहराये जायेंगे। यदि हम साधन और लक्ष्य में भेद न करें, तो हम अक्षय मूर्ख कहायें जाने के योग्य बन जाते हैं। हम को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि, आत्मरक्षा हमारा लक्ष्य है और इसके साधन में, संघर्षण पथ का अवलम्बन कर, हम साधन के मोह में लक्ष्य के विरोधी न बन जायें। यदि हम आत्मरक्षा के पक्षपाती हैं, तो हमको ऐसा करना चाहिये कि, और... नियम को सुगम रूप से पालन कर सकें। यदि संघर्षण... की आत्मरक्षा में विरोध पड़ा है तो इसके... पक्ष में उन्नति का साधन है।

अब हत्या से होता है वही काम  
 ... सं... सकता है वड़े जीव केवल  
 ... हुए नहीं कर सकते दाँट का अपना

# साम्य-मयी आत्म-रक्षा

“मात्मन्तु सर्वभूतेषु यः पश्यति न परयति”

Man is undoubtedly 'the paragon of animals,' the highest link in a vast chain, but it is a chain in which one and the same right to live belongs to all

—James Ward

इस संसार का प्रवाह उन्नति की ओर बह रहा है। हम सब को इस प्रवाह के साथ बहना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी शक्ति के अनुकूल इस संसार की उन्नति में योग देते हैं किन्तु, इस उन्नति के साथ साथ सब भी बहुत होता है। क्या हम संसार की उन्नति में सहारा देते हुए भी इस संघर्ष-अन्य-क्षय को कम कर सकते हैं ?

आत्म-रक्षा का नियम प्राणी मात्र के साथ लगा हुआ है। छोटे छोटे कीड़ों का जीवन, हमारे लिये चाहे तुच्छ क्यों न हो, किन्तु उनके लिये यही अमूल्य है। जो अधिकार, एक मनुष्य को, जीवित रहने के लिये प्राप्त है, वही अधिकार तुच्छाति-तुच्छ कीड़ को भी।

क्या संघर्ष के नियम की भी इतनी ही ध्यानि है ? क्या संघर्ष अनिवार्य है ? नहीं, नहीं। संघर्ष आत्मरक्षा के ही हेतु होता है। संघर्ष हमारा परम पुष्ट्यार्थ नहीं बन







Main body of handwritten text, consisting of approximately 25 lines of dense script.



रिना से ही विद्या और व्यवसाय की वृद्धि होती है। जो प्रति-  
द्वन्द्विता के कारण, अपने व्यवसाय वालों का हित नहीं चाहता,  
वह अपने हित के विरुद्ध करता है। उपरति सदा प्रेम और सह-  
कारिता की अनुरागिनी होती है। हम संघर्षण द्वारा, जीवन-  
संग्राम में, विजय नहीं पा सकते। वह विजय ही किस काम  
की, जिसके, बाद भी संग्राम घना ही रहे? संघर्षण से जो  
विजय-प्राप्ति होती है, वह चिरस्थायिनी नहीं होती। क्योंकि,  
उस में द्वेष की जड़ का नाश नहीं हुआ रहता। अतः पुनः समय  
पा कर अंगुर देने लग जाती है। संसार में चिरस्थायिनी शान्ति  
तभी स्थापित हो सकती है जब मनुष्य मात्र में समता के भाव  
उत्पन्न हो जायें। अन्तर्जातीय प्रश्नों में जब धर्म और कर्तव्य-  
शास्त्र के सिद्धान्त लगाये जायें तभी यह आशा की जा सकती  
है कि मनुष्य जाति का युद्ध के हत्या-काण्ड से निवृत्ति मिलेगी।  
अथ स्वार्थ पूर्ण अर्थ-शास्त्र का समय नहीं। अथ निस्वार्थ धर्म  
की आवश्यकता है। हम यदि किसी जाति को अपने अधीन  
बनाना चाहते हैं, तो हम उसमें, अपनी जाति के उच्चतम भाव  
पैदा करने का यत्न करें। जहाँ भावों की एकता हो, वहाँ फिर  
कोई भी भेद न रह जायगा। जो नियम जाति के लिये है, वही  
नियम त्यक्तियों के लिये भी घट जायेगा। किसी देश पर राज-  
नैतिक अधिकार ही जमा लेना, उसका जीत लेना नहीं है। राज-  
नैतिक अधिकार का सिद्धा जमाये बिना भी, हम किसी जाति  
पर अपना मानसिक अधिकार जमा सकते हैं। हिन्दू राजाओं  
का अधिकार भारतवर्ष से उठ गया। किन्तु हिन्दू धर्म का  
साम्राज्य अभी तक वर्तमान है। धर्म का साम्राज्य शटल है।  
इस साम्राज्य के स्थापित करने वालों को किसी कौड़ की जड़-

रत नहीं होती । बौद्ध महाराज ने सांसारिक राज्य की कुछ भी परवाह नहीं की । किन्तु, उन का स्थापित किया हुआ साम्राज्य लग भग आधी दुनिया में वर्तमान है । विचारे ईसा मसीह के पास कौन सी फौज़ थी ? किन्तु, अपनी दया और नम्रता के बल से उन्होंने ने सारे यूरोप को धर्म में कर लिया । सिक्रन्दर का स्थापित किया हुआ साम्राज्य नामावशेष है किन्तु, उसके गुरु (Aristotle अरस्तू) का अधिकार अभी तक सारे संसार में वर्तमान है । दया, ज्ञान और प्रेम का साम्राज्य इत्यादि के दधिर से दूषित नहीं है । अतएव, सत्य तथा शान्ति की ध्वजा, घर घर में, स्थापित करने का यत्न करना चाहिये ।

“उन्नति निमित्ता जीवा, धर्मैर्गैव क्रमादिह ।

विदधानाः साधधाना, समन्ते परमंपदम् ॥”



## शान्तिधर्म

एतद्गु सर्वान्दि भूतान्यात्मन्वेवानुपश्यति ।  
 सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विदुगुच्छते ॥

Self love but serves the virtuous mind to wake,  
 As the small pebble stirs the peaceful lake,  
 The centre moved, a circle straight succeeds  
 Another still, and still another spreads;  
 Friend, parent, neighbour, first it will embrace  
 His country next, and next the human race,  
 Wide and more wide, th' o'erflowings of the mind  
 Take every creature in, of every kind.

—POPE.

**साम्य**-मयी ज्ञात्म-रक्षा को शान्ति-धर्म कहते हैं अर्थात्, जिस ज्ञात्मरक्षा में, अपनी ज्ञात्म-रक्षा के साथ, अपने से भिन्न रचि और स्वार्थ के रखने वाले मनुष्य, तथा अन्य जीवधारियों को भी रक्षा होती रहे। हम यह नहीं चाहते कि हमारे चारों कोई मनुष्य अपनी मुख्यता या विशेषता को छेड़ दे अनेकता ही में एकता स्थापित करने को साम्य कहते हैं। 'Unity amidst Diversity' अनेकता का रहना भी इतना ही आवश्यक है, जितना कि एकता का, क्योंकि, बिना भिन्नत्व के हमको सत्कार में रहना कठिन हो जायगा। सत्कार की जो कुछ सुन्दरता है, वह भिन्नत्व ही के कारण है :



## शान्तिधर्म

यस्तु सर्वादि भूतान्यात्मन्देवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विदुष्यते ॥

Self-love but serves the virtuous mind to wake,  
As the small pebble stirs the peaceful lake.  
The centre moved, a circle straight succeeds  
Another still, and still another spreads;  
Friend, parent, neighbour, first it will embrace  
His country next, and next the human race.  
Wide and more wide, th' o'erflowings of the mind  
Take every creature in, of every kind.

—POPE.

**साम्य**-मयी आत्म-रक्षा को शान्ति-धर्म कहते हैं अर्थात्, जिस आत्मरक्षा में, अपनी आत्म-रक्षा के साथ, अपने से भिन्न रुचि और स्वार्थ के रखने वाले मनुष्य, तथा अन्य जीवधारियों को भी रक्षा होती रहे। हम यह नहीं चाहते कि हमारे कारण कोई मनुष्य अपनी मुख्यता या विशेषता को छोड़ दे। अनेकता ही में एकता स्थापित करने को साम्य कहते हैं "Uniformity amidst Diversity." अनेकता का रहना भी इतना ही आवश्यक है, जितना कि एकता का, क्योंकि, अनेकता के बिना निष्पत्त के हमको संसार में रहना कठिन हो जायगा। संसार की जो कुछ सुन्दरता है, वह निष्पत्त ही के कारण है।









## SHANTI-DHARMA.

सुख और शान्ति गुरीयो में है वह अमोरी में नहीं। गुरीय ही लोग सन्तोष और प्रेम का आनन्द अनुभव कर सके हैं। सच्ची अमोरी धन की अधिकता से नहीं प्राप्त होती: धन, चित्त की उदारता से। फ़ारसी में कहा हुआ है कि—“तवङ्गरी व दिलस्त न बमाल।” चित्त को उदार बनाने का यत्न करना चाहिये। कंरो अमोरी से शान्ति नहीं मिल सकती।

बाइबिल में लिखा है कि—“सुई के नाके में से अंटे का जाना सहज है किन्तु अमीर आदमी का खुदा की यादशाहत में दाखिल होना कठिन है।” गुरीयो के साथ साथ ज्ञान और संतोष लगा हुआ है, तो गुरीयो का होना बुरा नहीं। धन्य हैं निर्धन लोग जो स्वयं सताये जाने पर भी दूसरों को नहीं सताते।

संसार की एकता का ज्ञान जैसा गुरीय आदमियों को होता है—वैसा अमीर आदमियों को नहीं। संसार की एकता जानने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हम एक साथ ही निर्धन बन जायें। अमीर होते हुए भी हम गुरीयो का भाव धारण कर सकते हैं। हम सब को गुरीय आदमियों की भाँति नम्र बनना चाहिये। गुरीय आदमी हमारे आदर के योग्य हैं। क्योंकि वे अपने जीवन से सन्तोष आदि सद्गुणों का उपदेय देते रहते हैं। उनके जीवन से हमको शिक्षा मिलती है कि सचरित्र मनुष्य बनने के लिये धन की आवश्यकता नहीं। आत्मा की उन्नता का बाहरी ढाढ से कुछ सम्बन्ध नहीं। संसार जिनको यड़ा आदमी कहता है उनके अनिरिक और भी यड़े आदमी हैं, जिनकी आत्मा हमारी आत्मा से कई दर्जें ऊँची है। गुरीय और अमीर सब ही में एकही आत्मा ; हो रहा है। इसलिये सब



सुख और शान्ति गरीबी में है वह अमीरी में नहीं। गरीब ही लोग सन्तोष और प्रेम का आनन्द अनुभव कर सके हैं। सच्ची अमीरी धन की अधिकता से नहीं प्राप्त होती; धन, चित्त की उदारता से। फारसी में कहा हुआ है कि—“तबङ्गरी व दिलस्त न यमाल।” चित्त को उदार बनाने का यत्न करना चाहिये। गरीबी अमीरी से शान्ति नहीं मिल सकती।

बाइबिल में लिखा है कि—“सुर के नाके में से ऊँट का जाना सहज है किन्तु अमीर आदमी का खुदा की यादशाहत में दायिल होना कठिन है।” गरीबी के साथ साथ ज्ञान और संतोष लगा हुआ है, तो गरीबी का होना घुरा नहीं। धन्य हैं निर्धन लोग जो स्वयं सताये जाने पर भी दूसरों को नहीं सताते।

संसार की एकता का ज्ञान जैसा गरीब आदमियों को होता है—वैसा अमीर आदमियों को नहीं। संसार की एकता जानने के लिये यह आवश्यक नहीं कि हम एक साथ ही निर्धन बन जायें। अमीर होते हुए भी हम गरीबी का भाव धारण कर सकते हैं। हम सब को गरीब आदमियों की भाँति नम्र बनना चाहिये। गरीब आदमी हमारे आदर के योग्य हैं। क्योंकि वे अपने जीवन से सन्तोष आदि सद्गुणों का उपदेश देते रहते हैं। उनके जीवन से हमको शिक्षा मिलती है कि सच्चरित्र मनुष्य बनने के लिये धन की आवश्यकता नहीं। आत्मा की उन्नता का याहरी ठाट से कुछ सम्बन्ध नहीं। संसार जिनको पड़ा आदमी काएता है उनके अतिरिक्त और भी पड़े आदमी हैं, जिनकी आत्मा हमारी आत्मा से कई दर्जें ऊँची है। गरीब और अमीर सब ही में एकही आत्मा का चिरास हो रहा है। इसलिये सब



अग्निं समभे—विना विचारं युक्ते—कभी न निकाले' । हमको  
लब्धे २ शब्द तो घोलने ही चाहिये, उसके साथ साथ, हमको  
ह भी ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि, हम उन शब्दों को  
सी ध्वनि में तो नहीं कहते, जिससे कि हम दूसरे के ऊपर  
पना अनधिकार आधिपत्य जमाते हों । विचारने की बात  
कि—

“कामा काको धन हरे, कोयल काको देत ।

मीठी बोली बोल कर, जग अपना कर लेत ॥”

हिंसात्मक विचारों से सदा बचते रहना चाहिये, क्योंकि, न  
ने वह विचार कब क्रिया में परिणत हो जाये' । जिस बात को  
। विचारते हैं, वह कभी न कभी हमारी जिहा पर आ ही  
ती है । और, फिर उसके कारण हमें दुःख का दुःसह भार  
जाना और ढोना पड़ता है ।

हिंसा से केवल दूसरों का ही नाश नहीं होता, परन्तु अपना  
। हम दूसरे के शरीर का हनन करते हैं—यस यही हिंसा  
। परन्तु हिंसा द्वारा हम अपनी अन्तरात्मा का हनन कर  
ते हैं । हिंसक लोग संसार में अशान्ति के बीज बो देते हैं  
र, कभी कभी, स्वयं ही, अपने लगाये हुए वृक्ष का फट्ट  
त चघाते हैं ।

अहिंसा के साथ साथ, क्षमा भी परमावश्यक है । बहुत से  
ग ऐसे हैं, जो स्वयं हिंसा नहीं करते । किन्तु, हिंसा के  
पदले हिंसा करने के लिये सहज ही में तैयार हो जाते हैं ।  
प्रति-हिंसा से भी, द्वेष के बीज बोये जाते हैं । संघर्षणयुक्त  
साधनों से स्वप्न में भी शान्ति नहीं मिलती । समाशील—  
सहिष्णु—बनने की बड़ी आवश्यकता है । क्षमा रूपं तपस्वि-





## SHANTI-DHARMA.

हम को ऐसा कामा चाहिये कि, हम ही सर्वदा सर्वत्र दूसरों को ही कामा करने दें, और कामा भूय कर भी ऐसा करना करने लगे 'म कामे' दे कि हम को भी किसी दूसरे के मदर करणों की मद में कामा की भोग नंगनी पड़े। यदि हम सर्वत्र कामा को रोहने की चेष्टा करने हैं तो हम को यह भी रजित है कि, करणों सुयोग्यता द्वारा तथा कामे सद्ब्यवहार के मदर दूसरों में प्रोधाति प्रदर्शित होने से रोके। तब तो 'रुग्नि-धर्म' का निरन्तर प्रचार बढ़ता जाता सम्भव है। इन्हीं कामाओं का अत्यन्त करने से मालिका विलास भली प्रकार से हो सकता है। इनके लिये--'शील' और 'सन्तोष' की बड़ी ही आवश्यकता है। शीलवान् दूसरों का मद से ऐसा सद्-व्यापार रहा करता है कि उनसे कोई भी उदासीन, उनमता अधिका प्रति-कृत नहीं रह सकता। ये मदके प्रिय बन जाते हैं। नम्रता के लगे मद अक्ष निष्कल हो जाते हैं। 'सर्वे शीलवतां जितः'। हम करणों नम्रता से केवल करने को ही कामा नहीं पहुँचाते, परन्तु दूसरों को भी के-पाति में मल होने से बचाते हैं। हम को करणों नम्रता, चारों और व्यवहार दोनों ही में दिखानी चाहिये।

मोटे बदन से जो सुख और सन्तुष्टि का काम होता है वह किसी सुधारक से सनी हुई निगाह से भी सम्भव नहीं है। यह ऐसी निगाह है जिसका निजान किसी तरह की हानि नहीं करता। कामा की वृत्ति इती निगाह से हो सकती है। सत्य-वृत्ति की वृत्ति इती स्वाद से उपजती है। हिन और प्रिय-वादिनों के शिरोमणि गान्ध्यानी तुलनादान ने मधुमादर के विषय में कैसा अच्छा कहा है।

'सुखही मोटे बदन के' सुख उद्वन बड़' और।

इतिहास पर नव है इतिहास बदन करी।'



रहती है। असन्तोष ही एक भारी विप्रदाया है जो शान्ति के स्थापित होने में सबसे पहले था गड़ी होती है। असन्तोषी की सारी अभिलाषायें कभी पूरी नहीं हो सकती। क्योंकि संसार में और लोग भी तो ऐसे अनेक पड़े हैं, जिन्हें लाभ की सोच लहर घटाते फिरती है। जो कृष्ण की तरल तरंग में तले-ऊपर होकर टूट रहे हैं, उनकी मूर्ति कभी हो नहीं सकती। वे आजन्म अध्यात्म आसक्त दुःखी रहेंगे—यह धृषसिद्धान्त—यह अष्टम परम्परा—प्रतिक्षण प्रमाणित होती है, किन्तु तब भी हम कृष्ण-जाल से बाहर होना नहीं चाहते।

असन्तोषी मनुष्य स्वयम् भी दुःखी रहता है और दूसरों को भी दुःखी बनाये रहता है। उसके द्वारा बहुतों को कष्ट पचता है। किन्तु, सन्तोषी मनुष्य अपने भी सुखी रहता है, और दूसरों को भी सुख-शान्तिपूर्यक रहता है। असन्तोषी मनुष्य यम-यातना की मूर्ति है और सन्तोषी मनुष्य की स्वर्गीय-प्रतिमा, पूजनीय होती हुई सुख-शान्ति-विस्तारिणी है। कामनाओं का कलेवर घृहदाकार होने से पीड़ा एवं क्लेश की रूढ़ि होती है। और सन्तोष ही केवल सुखशान्ति का कारण और अशान्ति का अन्तक है। एक महात्मा की वाणी है कि—

‘धर्मा सुखा नही मोष विनु मुष्ट निधन सुखजान ।

नृप सुख हित पथि पथि मरे मन मुनि मोर महान ॥”

सन्तोष के साथ और और सद्गुणों की यथेष्ट वृद्धि करने का यत्न करना चाहिये। शान्ति मय जीवन के लिये हमको यह आवश्यक है कि हम सब के साथ भेद-भाव छोड़ कर अभिन्न हृदय से मिलें जुलें। किसी की चढ़ाई व सम्पत्ति देव



मन को सही राह पर ले जाना श्रेयस्कर है। उसे सात्त्विक रूप देने की आवश्यकता है। हमको अपना स्वाभाविक सन्मार्ग निर्माण करना चाहिये। हमें अपने को ऐसे साँचे में ढालना चाहिये कि, बिना प्रयास के ही हम से अच्छे-अच्छे कामों का श्रांगणेश होने लगे। बिना किसी तरह के परिश्रम के ही, स्वाभाविक रीति से, हमारी सत्कार्य में दृढ़ प्रवृत्ति होने लगे। यह बात अभ्यास बिना सिद्ध नहीं हो सकता।

हम अपने कर्मों से ही ऊँचे अथवा नीचे पद को पाते हैं। हमारे स्वभाव और संकल्प से हमारे कर्म बनते हैं। हमको अपने स्वभाव और संकल्पों के संशोधन का यत्न करना चाहिये। सच्चरित्र सज्जन सारे संसार को लाभ पहुँचा सकते हैं। जो सच्चरित्र नहीं हैं उनसे शान्ति का प्रसार नहीं हो सकता, केवल मुय का हास ही होगा। शान्ति का पाठ अभ्यस्त करने वालों को सच्चरित्र बनने की लगन लगानी चाहिए। यदि हम बुरे हैं तो केवल अपने ही को बुरा नहीं बनाते परन्तु सारे संसार में बुराई के बीज बोते हैं। हम अपनी अच्छाई से सारे संसार को अच्छा बनाते हैं और बुरे होकर संसार का शनिष्ट साधन करते हैं। जब तक हम अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों का उचित व्यवहार करना नहीं सीखेंगे तब तक हम से किसी का कुछ भी उपकार नहीं हो सकता।

हमारे कार्यों का परिणाम यही दूर तक पहुँचता है। इन्-लिये जो कुछ हम करें, उसे सोच विचार कर करें। हमारे काम हम ही तक रह जाते तो हमनी हानि होने की सम्भावना नहीं, किन्तु हमारी कार्योंवाली का प्रभाव सारी समाज पर पड़ता है। इसीलिये, हमारा उत्तरदायित्व बहुत ही बड़ा है।



दम्भ, इत्यादि अशुभों को जलने हृदय से बाहर करे: अथ च, सन्ती शान्ति और सद्ब्रह्मचार द्वारा दूसरे लोगों में से भी इन उच्छृंखल अशुभों का समूह नाश करने का उपाय करे। प्रत्येक जांबवारी को सद्गुणायत्नी और सद्यो शक्तियों के यथोचित विस्तार में सहायता दे। एम सद्य लोगों का यहाँ प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये कि, संसार में संघर्ष, हिंसा और प्रतिहिंसा को दूर करने में, एक दूसरे की सहायता कर, इस शुभ कार्य में योग दान दे। एम लोगों को अपनी सद्य शक्तियों को एक घोर केंद्र पर एकत्र करना चाहिये कि, 'विद्यमन' के विस्तार से 'आत्मीयता' के प्रचण्ड मार्तण्ड को प्रसर करणों का इतना प्रसार हो जाय कि, संसार से निन्द्यकर्मों और घृणालब्ध विचारों के दाहिल विद्रुम निद्रुम हो जाय, और चारों ओर शान्ति की प्रेमनयी मूर्ति दिखाई पड़ने लगे और सदा साम्य की सुखनयी सुधाधारा का अनवरत प्रवाह संसार को परिभाषित कर संघर्ष और द्वेष को दहकती हुई अग्नि को शान्त कर दे।

इसी प्रकार शान्ति देवी का निर्वाण-निद्रुज निर्माण करके संसार में सुख-वसुध को निमन्त्रित किया जा सकता है। इस प्रकार विद्यमन द्वारा मनुष्य चिरकालि को स्थापित कर के अपना मानव-जीवन सफल करे।

“शुभनस्तु सर्वजगतान् सर्वो भद्राणि परयतु।

लौकाः सनत्ताः सुखिनो भवन्तु

योग्य शान्तिः शान्ति शान्ति





